विश्व-साहित्य-ग्रन्थमाला

कविता-विभाग का छठा ग्रन्थ

अधखिले-फूल

लेखक—

श्रीयुत केदार

भूमिका-लेखिका—

श्रीमती महादेवी वर्मा एम० ए०

प्रिंसिपल महिला-विद्यापीठ प्रयाग

प्रथमावृत्ति } फरवरी १९३५ { मूल्य अजिल्द ।।।) सुनहरी जिल्द १)

प्रकाशक—
विश्व-साहित्य-ग्रन्थमाला
मैक्लेगन रोड, लाहौर।

मुद्रक—
भीमसेन विद्यालंकार
नवयुग प्रेस, लाहौर।

तीन वियुक्त आत्माओं की स्मृति में

आत्म-निवेदन

इन्हें अछूती बन्द कलियाँ कहने का साहस क्योंकर करूँ ? यह पूर्ण विकसित पुष्प हैं सो भी तो कहना कठिन है। अधखिले-फूलों के नाम से ही अपनी इस भेंट को हिन्दी-प्रेमियों के सम्मुख रखता हूँ।

'अधखिले-फूल' मेरे हृदय के मौन उद्गार होकर भी जीवित जीवन के लिये एक तड़प रखते हैं। मेरा उद्योगमय वैराग्य और कर्मशील त्याग में ही विश्वास है। कुछ दिव्य विभूतियों ने अंधकार में विद्युत की तरह चमक कर मेरे इस विश्वास को और भी दृढ़ और गहरा कर दिया है।

जीवन की खाली झोली एक बार तो अत्यन्त अखर उठी। निर्धन भिक्षु की तरह ऐसे ही कुछ दिन भावोद्यान और कल्पनाओं के वन-उपवन में घूमता रहा। यह 'अधखिले-फूल' विश्व-प्रसूता प्रेममयी प्रकृति ने ही अपनी महती कृपा से मेरी झोली में डाल दिये। इन के सौंदर्य और सौरभ की परख भला मैं कैसे कर सकता हूँ ? जो कुछ मिला पाठकों की भेंट कर दिया है।

कदाचित् किसी किसी फूल में कुछ कंटक से खटकने लगें। आख़िर सभी फूल तो कंटक-रहित नहीं होते। तो भी सहृदय पाठकों से मेरा यही निवेदन है कि वह उन काँटों को मेरी ही भूल और अल्पज्ञता से रह गये जान कर क्षमा करें।

यहाँ पर हिन्दी में गद्य-काव्य के इतिहास का वर्णन मुझे अप्रासंगिक प्रतीत होता है। समालोचक महानुभावों से केवल इतना ही कहना है कि पंजाब में हिन्दी की ऐसी रचनाओं का अभी तक प्रायः अभाव सा ही बना है। पुस्तक लिखने में इस प्रान्त में हिन्दी के अल्प और मन्द-गति विकास को यथा-संभव ध्यान में रक्खा गया है।

श्रीमती महादेवी जी वर्मा ने 'एक बात' के रूप में छोटी सी परन्तु सुन्दर और अनुकूल भूमिका लिख कर मेरे ऊपर विशेष अनुग्रह किया है। इस कृपा के लिये मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ।

शीघ्रता में छापे और प्रूफ़ की कुछ-एक अशुद्धियाँ रह गई हैं। आशा है उनके लिये पाठक-वृंद क्षमा करेंगे।

सरस्वती सदन,
स्यालकोट
वसंत पंचमी, ११९१

केदार

एक बात
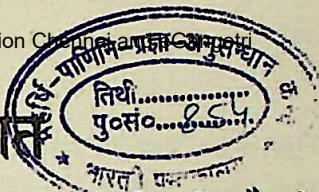
यदि कविता जीवन की भावात्मक अभिव्यक्ति है तो स्वर-सामञ्जस्य के मधुर बन्धन में बन्दी संगीत, विविध रंगों के एक दूसरे में मिट जाने से जन्म पाने वाला सुन्दर चित्र, मूक आख्यानमय अश्रु-बिन्दु और अलक्ष्य प्रकाश के परमाणु से बिखराती हुई स्मित आदि भी उसके अन्तर्गत कहे जा सकते हैं गद्य काव्य की तो बात ही क्या !

वास्तव में काव्यात्मक गद्य और पद्य दोनों एक ही महा-काव्य की, जो प्रकृति के जड़ कणों में सुप्त और जीवन के चल क्षणों में स्पन्दित हो रहा है, अभिव्यक्ति के दो साधन हैं। फिर भी गद्य अधिक स्वाभाविक और पद्य के लिए आवश्यक बन्धनों से मुक्त होने के कारण जीवन के अधिक समीप है इस में सन्देह नहीं।

एक यदि स्वच्छन्द विहग का कलरव है तो दूसरा किसी कलाविद् द्वारा झंकृत वीणाध्वनि, एक यदि गिरि के प्राकृतिक शिला-खण्डों पर से असम गति से उतरती हुई निर्झरिणी के समान आनन्द देता है तो दूसरा चतुर शिल्पी द्वारा निर्मित स्फटिक-सोपानों से गिरे हुए मन्थर-गति सुन्दर सरोवर के समान मनोमुग्धकर है, और एक को देख कर यदि हवा से झिलमिलाती शिखा वाले दीवट पर जलते हुए दीपक का स्मरण हो आता है तो दूसरे से बिल्लौरी कारागार से प्रकाश देने वाली मोमबत्ती का। परन्तु गद्य-काव्य की स्वतन्त्रा ही

उसके रचयिता को अधिक सतर्क रहने का संकेत करती रहती है ऐसा मेरा विश्वास है।

पद्य का भाव-शैथिल्य उसके संगीत की ओट में छिप जावे परन्तु गद्य के पास उसे छिपाने के साधन कम हैं। रजनीगंधा की क्षुद्र, छिपी हुई और चुपचाप विकसित होने वाली कलियों के समान एकाएक खिल कर जब हमारे नित्य परिचय के कारण साधारण लगने वाले शब्द हृदय को भाव-सौरभ से सराबोर कर देते हैं तब हम चौंक उठते हैं और इसी में गद्य काव्य का सौन्दर्य्य निहित है। पद्य में तो हम इस विस्मय के लिए पहिले से प्रस्तुत ही बैठे रहते हैं।

इसके अतिरिक्त गद्य की भाषा बन्धनहीनता के बन्धन में बद्ध, चित्रमय, परिचित और स्वाभाविक होने पर ही हृदय को छूने में समर्थ हो सकती है कारण हम कवित्वमय गद्य को अपने उस प्रिय मित्र के पत्र के समान पढ़ना चाहते हैं जिसकी भाषा, बोलने के ढंग विशेष और विचारों से हम पहिले से ही परिचित हों—उसका अध्ययन हमें प्रायः इष्ट नहीं होता।

हिन्दी में गद्य-काव्य का सुन्दर और समयानुकूल विकास हो रहा है परन्तु यहां उसके विकास का इतिहास लिखना मेरा उद्देश्य नहीं। प्रस्तुत गद्य-काव्य के लेखक से मेरा परिचय नहीं है केवल 'अधखिले फूल' से मैं परिचित हूं। उनमें मुझे अर्धमीलित कलियों के परिमल का प्रथम परिचय भी मिला

और सुरभित वासन्ती भविष्य की आशा भी। आलोचनात्मक दृष्टि से उसकी चर्चा करने की मेरी इच्छा नहीं कारण ऐसी विवेचना किसी व्यक्ति विशेष के ही विचारों की समष्टिमात्र होती है जो भिन्न भिन्न व्यक्तियों के 'अन्तर्बोध' या पूर्व ज्ञान से उत्पन्न रुचि के अनुसार ही भिन्न भिन्न है। बालक चित्र में केवल रंग देखता है, कलाविद् रंगीन भाव और दार्शनिक भाव और रंगों में अन्तर्हित रहस्य। परन्तु कुछ वस्तुयें इसका अपवाद हैं। एक व्यक्ति जिसे सुन्दर कहता है सम्भव है दूसरा उसे उसी रूप में ग्रहण न करे, परन्तु एक मनुष्य जिसे अश्रु कहता है उसे दूसरा हँसी समझने की भूल नहीं कर पाता। इसी से मुझे विश्वास होता है कि 'अधखिले फूलों' के अनेक फूल बहुतों को समान रूप से प्रिय लगेंगे।

लेखक ने पंजाब जैसे प्रान्त में रहते हुए भी हिन्दी-मन्दिर में जो अर्घ्य चढ़ाया वह सराहनीय है। इसे माँ भारती की मुकुट माला में स्थान मिले, यह कामना मुझे बहुत मधुर नहीं लगती क्योंकि मेरे विचार में पूजा की वस्तु का उचित स्थान देवता के चरणों में ही होता है। यह उन अलक्षित चरणों को अपने पराग से रंजित कर उनके स्पर्श से स्वयं भी पूत हो सके यही कामना है।

महिला विद्यापीठ
प्रयाग
२१ - १२ - ३४

महादेवी

विषय-सूची

समर्पण

देव ! भक्तिभावना की इस सरस भेंट को स्वीकार न करोगे ? यह तो बन के फूल हैं। इनका सौंदर्य्य क्या देखते हो ? अभी अर्ध-विकसित ही हैं, सौरभ क्या ढूँढते हो इनमें मेरे आराध्य देव ?

तुम्हारे ही तो उपवन से लाया हूँ। तुम्हारी वस्तु तुम्हें समर्पण करते कुछ संकोच अवश्य होता है। परन्तु तुम्हारी ऐसी ही

आज्ञा है कि मैं तुम्हारे इस उपवन के बचे खुचे फूलों को एकत्रित करूँ। तुम्हारी वस्तु तुम्हें देकर आज हृदय कैसा संतोष और शान्ति अनुभव करता है ?

न सही ! सुन्दर न होने से यह तुम्हारे शिरोभूषण होने का सौभाग्य प्राप्त न कर सकेंगे। अपनी अल्प सुगंधि से तुम्हारे कोमल कंठ की शोभा भी न बनेंगे। परन्तु अपने चरणों में पड़ी हुई पूजा की अतुल सामग्री में इन्हें भी स्थान दे दो सबके प्रतिपालक !

एक बार इन्हें स्पर्श मात्र कर दो, यह आप ही उस से खिल उठेंगे। अपने नेत्रों से देख भर लो, इनका अल्प सौंदर्य्य स्वयं ही चमक उठेगा।

न खिलें। न चमकें। इन्हें चुपचाप अपनी स्वर्ण-पादुकाओं के नीचे ही रख लो इष्टदेव ! यह भी मेरे लिये कुछ कम सौभाग्य की बात न होगी।

अपने जीवन का अर्घ ही तो इन "अधखिले फूलों" के रूप में तुम्हारे अर्पण कर रहा हूँ इसे अंगीकार न करोगे भगवन् ?

विनय

मेरी अल्पज्ञता पर क्यों जाते हो ब्रह्माण्ड के स्वामी ! तुममें विलीन होकर ही तो मैं अपने को परिपूर्ण समझ सकता हूँ।

अपने सुंदर विश्राम-गृह में मुझे भी आश्रय क्यों नहीं देते हो देव ? थके-माँदे इस पथिक को तो तुम्हारा ही एक अवलम्ब है।

अंधकार में कब तक ठोकरें खाता फिरूँ ? इस भूले-भटके राही को तुम्हारे पथ-प्रदर्शन की ही आवश्यकता है महा-ज्योति !

भव-सागर को पार कैसे करूँ ? तुम ही तो इस टूटी-फूटी नौका के कर्णधार हो। इस किनारे खड़े कितनी देर हो गई ? अब तो पार लगाओ विश्व-खेवट !

मेरे जैसे पीड़ित रोगी को ही तो तुम्हारी परम औषधि दरकार है। विलम्ब क्यों करते हो ? यह भयानक रोग तो पीछे असाध्य हो जायगा। कड़वी मीठी जैसे तुम्हारी समझ में आये अब पिला ही तो दो दिव्य-चिकित्सक !

मैं कब से तुम्हारा द्वार-पट खट-खटा रहा हूँ ! कर्मों की इस गठरी के बोझ को लिये कब तक खड़ा रहूँ ? दण्ड का विधान क्यों नहीं करते न्यायाधीश ! अचूक और अटल न्याय में तुम्हारी हितकामना ही तो छिपी है। यह बोझ मेरे सिर से शीघ्र न उतार दोगे दया-सागर ?

न, क्षमा नहीं चाहता हूँ। पाप के विकराल स्वरूप का परिज्ञान न होने के कारण ही तो उस के मायाजाल में फँसा हुआ हूँ। अब और देर न करो। अपने निर्णय को बस कार्य-रूप में लाने की आज्ञा देदो विश्वनायक !

याचना

ओ विश्व-चित्रकार ! थोड़ा रंग अपनी भरपूर प्यालियों में से मुझे भी तो ले लेने दो। मेरे जीवन की निर्जीव विभूति को देख कर स्वयं तुम्हें ही क्या खेद नहीं होता है ?

सौंदर्य्य-हीन, रंगों से रहित मेरे जीवन की इस सूखी प्याली में कुछ तो डाल दो मेरे चित्र-कला-शिक्षक ! मेरे चित्र की असा-रता और निकृष्टता को देख कर तुम्हारे नाम पर ही तो उँगली उठेगी मेरे गुरुदेव !

लक्ष्मी ने सुन्दर-सुन्दर रूप बदलकर मेरी झोंपड़ी के मुख्य द्वार पर खड़े हो न जाने कितनी बार मेरी ओर देखा पर अपने चित्र के अधूरेपन के कारण मुझे उससे दो बात करने का भी तो अवकाश नहीं मिला। वसंत के उषाकाल में सौंदर्य-महारानी ने भी एक-दो बार झाँका परन्तु अपनी सूखी प्याली और टूटी तूलिका को देखकर मुझे उधर दृष्टि डालने का साहस नहीं हुआ।

यह चित्र ही तो जीवन की एक साध थी। इसके लिये भी थोड़े से रंग का अभाव ? क्या आपको भी प्रभुदेव ! यह अधूरा चित्र नहीं अखरता ?

अपने अमृत-जल की एक बूँद ही दे दो, अमृत के महा-सागर ! जिस में मैं अपने जीवन-रक्त को घोल कर ही एक बार अपने इस चित्र को रंगमय तो बना लूँ। इतना भी न करोगे देव ?

वीणा

कैसी मधुर झंकार निकलती है जब तुम इस वीणा की तारों को अपनी कोमल उँगलियों से छेड़ते हो। उस झंकार से निस्तब्ध पवन में थिरकन पैदा होती है, शान्त जल उद्वेलित हो उठता है, सोये हुये भाव फड़कने लगते हैं।

और जब तुम उस वीणा की झंकार के साथ कभी कभी अपनी मधुर स्वर-लहरी को भी मिला देते हो, तब कैसा सुन्दर समाँ बँध जाता है? उस सरस तान को सुनकर पवन मस्त होकर हिलोरे लेने लगता है, जल की लहरें नाच उठती हैं, और मानव-आत्मायें झूमने लगती हैं।

\+ \+ \+

छेड़ो संगीताचार्य! मेरी इस छोटी-सी जीवन-वीणा के तारों को भी एक बार अपनी कोमल उँगलियों से अवश्य छेड़ दो। संसार तुम्हारी ही तो वाह-वाह करेगा, कैसे प्रवीण हो तुम संगीत में!

और एक-आध तान भी छेड़ दो वह वीणा बजाते हुवे विश्व-गायक! सब तुम्हारी ही तो प्रशंसा में कहेंगे, कैसा सुन्दर और कैसा मधुर गाता है यह दिव्य-गवैया!

अमृत

अमृत...! क्या कहते हो, एक घूँट अमृत पान कर मैं भी अमर हो जाऊँगा। परन्तु कहाँ है अमृत ?

किस-किस ने इस के लिये विश्व का कोना-कोना नहीं छाना ? बड़े-बड़े समुद्र, दरिया और पर्वत पार किये, देश-देशान्तरों के चक्कर काटे पर कहीं किसी को आज तक अमृत मिला भी है ?

सचमुच अमृत इस अनित्य संसार में कहां है ?

\+ + +

अमृत...! क्या कहते हो, एक घूँट अमृत पान कर मैं भी अमर हो जाऊँगा। परन्तु मेरे साथ मेरी संकीर्णता, मेरा स्वार्थ और मेरी शून्यता भी क्या अमर न हो जायेंगे ?

और निर्धनता, निर्बलता और निर्ममता यह सब भी तो मेरे साथ अमर पद को प्राप्त कर लेंगी।

ऐसा अमर पद क्या कभी सुखकारी होगा ?

अमृत...! क्या कहते हो, एक घूँट अमृत पान कर मैं भी अमर हो जाऊँगा। परन्तु प्रेम, पुरुषार्थ, श्रद्धा और भक्ति यह सब तो अमर न होंगे।

तप, त्याग, सेवा और सहानुभूति इन में से कोई भी तो साथ न रहेगा। ऐसे शून्य कर्म-हीन अमर-लोक को लेकर भी तो मैं क्या करूँगा ?

\+ + +

अमृत... ! क्या कहते हो, एक घूँट अमृत पान कर मैं भी अमर हो जाऊँगा। तो फिर पिलाते क्यों नहीं ?

अमृत का एक घूँट मुझे भी अवश्य पिला दो मेरे साकी ! हाँ, अमृत जिसे पीकर मैं धन, ऐश्वर्य, मान और पदवी सब कुछ भूल जाऊँ। अपना बड़प्पन भूल जाऊँ, अपना अस्तित्व तक भूल जाऊँ।

ऐसा अमृत सचमुच कहीं मिलना संभव है ?

\+ + +

पिला दो एक घूँट अमृत मुझे भी पिला दो। वही अमृत जिसे असंख्य व्यक्ति कर्तव्यपरायणता के प्याले में पान कर भूत के गर्भ में सदा के लिये विलीन हो गये।

आज भी तो उन के नाम गुमनामी के अथाह समुद्र में अमूल्य रत्नों की तरह सुरक्षित पड़े हैं।

मुझे भी मेरे जीवन-नायक ! उस अमर-जीवन का केवल एक घूँट पान कर लेने दो—बस, केवल एक घूँट।

चित्र

इस चित्र को देखकर ही तो मैं जी रही हूँ। सोते-जागते, उठते-बैठते यह सदा ही मेरे संग रहता है।

उन्हीं का तो चित्र है। कितना सुन्दर है! मानो वही सामने विद्यमान हैं। घंटों एकटक देखती रहती हूँ। तब भी तो जी नहीं भरता। इच्छा होती है अभी और देखूँ, निरन्तर देखती ही रहूँ।

इसे देख कर हृदय को अपार संतोष मिलता है, आत्मा को अनन्य शान्ति प्राप्त होती है, जीवन सुख से व्यतीत होता रहता है।

\+ \+ \+

क्या कहा ? यह चित्र नकल है ?

मैं तो इसी को आज तक सब कुछ समझी हुई थी। यह नकल है मुझे तो ऐसा कभी ख्याल भी नहीं हुआ।

इसी से क्या मेरे और उन के बीच में आवरण पड़ा रहा है ? यह इतना अन्तर, इतनी दूरी, इतना भेद क्या सब इसी के कारण से बना आ है ?

इस ने कितने धोखे में रक्खा है मुझे ? इसे देख कर मुझे कभी असंतोष और अशान्ति नहीं होने पाई थी। मैंने तड़पना तक बन्द कर दिया था। मैंने समझ रक्खा था मैंने उन्हें पा लिया हुआ है। कितना बड़ा धोखा था ?

क्या यह नवीन विज्ञान का चमत्कार था ? चित्र को देखकर ऐसा मालूम होता था वही साक्षात् खड़े हैं। कभी-कभी तो उन के रस-भरे नेत्र मुझे संकेत से करते हुये दीखते थे और ओंठ ऐसा प्रतीत होता था कुछ बोला चाहते हैं। तब मैं आनन्द-आवेश में बेसुध हो जाती थी।

क्या यह सब माया-मरीचिका ही थी ?

\+ + +

इस चित्र को फैंक दूँ ?

अवश्य फैंक दूँगी। इस नकली स्वरूप को, इस निर्जीव मूर्ति को मैं कदापि न रक्खूँगी। इसी के कारण मैं ने असल के लिये तड़पना छोड़ दिया, छटपटाना छोड़ दिया, आह ! प्रतीक्षा करना तक छोड़ दिया।

वह क्या कहते होंगे ? क्या मैं उन्हें बिल्कुल भूल गई ? उफ़ ! उन्हें एक बार भी स्मरण नहीं किया, कोई संदेश भी नहीं भेजा, हाय ! उनके वियोग में मेरे नेत्रों से दो बूँद आँसू तक नहीं बहे।

दूर हो चित्र, यह सब तुम्हारी ही करतूत थी। मुझे ध्यान तक नहीं होने दिया कि मैं नकल को ही दिन-रात हृदय से चिपटाये फिरती हूँ।

ओह! नकल के लिये मैं अब तक कैसे मरती रही?

\+ \+ \+

अब तो नेत्र खुल चुके हैं। नाथ! अब और न तड़पाओ। अपने सच्चे स्वरूप से, अपने दिव्य दर्शनों से इस दासी की अँधेरी कोठरी में भी उजेला करो।

तुमने शीघ्र ही सुध लेने का वचन दिया था। मेरी भूल को क्षमा करो। आओ! इस सेविका के हृदय-कमल को अपने पावन-स्पर्श से विकसित कर दो।

आह! यह विरहानल अब नहीं सहा जाता। अब तक बड़ी भूल में थी। काँच को रत्न समझकर सन्तोष मान रक्खा था। अब नहीं रहा जाता। वह तो खाली कटोरा था; उस से भला प्यास क्योंकर बुझ सकती थी?

अब न तरसाओ स्वामिन्! तुम्हारे मिलनामृत के अभाव में हृदय शुष्क हुआ जाता है, आत्मा निर्जीव सी हो रही है; आओ, एक जीवन जा रहा है।

सुख

क्यों पिला रहे हो, सुख का यह जाम पर जाम क्यों पिलाये जाते हो ?

कितनी तेज़ है इस जाम में भरी हुई सुख की मदिरा ? ओ, उसके मद से मैं तो लड़खड़ाने लगा हूँ । न, रहने दो । बस, और मत पिलाओ । थोड़ी पिलाई है क्या अब तक ?

+ + +

लो ! यह अन्तिम छलकता हुआ जाम भी पिला कर ही छोड़ा। यह पी कर तो अब मुझ से खड़ा भी नहीं रहा जाता। सँभालो, कहाँ हो अब ?

कितना तेज़ मद है। सिर चकराने लगा है, आँखें फिर गई हैं, संसार घूमता हुआ दीखता है, शरीर से आग की लपटें सी निकल रही हैं। अब तो साक़ी भी पहचाना नहीं जाता।

\+ \+ \+

कहा था इतनी न पिलाओ। लो गिरा। उफ़, कितना कठोर फ़र्श है नीचे। मेरा तो अस्थि-पिंजर चूर चूर हो गया है। कहाँ बचूँगा ? अब तो सर्वनाश ही है।

शीशे में भरी हुई कैसी सुन्दर और चमकदार दीखती थी यह सुख की मदिरा। परन्तु सुन्दर हलाहल ही तो था। आग की चमकती हुई लपटें ही तो बंद थीं।

अब न पिलाना। मैं कभी नहीं पीऊँगा यह सुख की मदिरा।

दिव्य-सौन्दर्य्य

यह तुम रोज रोज दर्पण क्यों देखती रहती हो ? क्या तुम्हें अपनी सुन्दरता की स्थिरता पर विश्वास नहीं है ?

कैसी है तुम्हारी सुन्दरता ! इतनी अस्थिर—एक दिन में ही बिगड़ने लगती है।

पर यह तुम बार बार दर्पण क्यों देखती हो ? क्या दर्पण तुम्हें सुन्दर बना देता है ?

\+ + +

क्या देखती हो तुम इस दर्पण में ?

अपने केश-कलाप की उलझी हुई अलकें, अपने कलित-कपोलों पर का उड़ा हुआ लालिमा-पाउडर, अपने नैन-बिन्दुओं का बहा हुआ काजल, अपने अधर-पल्लवों पर की फीकी पड़ी हुई अरुणिमा और अपने ललित-ललाट पर की मिटी हुई सुहाग-बिन्दी ?

\+ + +

कैसी सुन्दर हो अब तुम ?

घुँघयारी अलकें सुलझ गयी हैं। कपोलों पर लावण्य-लालिमा दौड़ने लगी है। आँखों से मधुर रस बरस रहा है। कोमल ओठों पर सरसता एक बारगी खिल उठी है और ललाट पर की सुन्दर सुहाग-बिन्दी चमकने लगी है।

दर्पण का कितना उपकार है तुम्हारे ऊपर। कैसी सुन्दरी बना दिया है उसने तुम्हें ?

\+ + +

पर क्या तुम्हारा भीतरी स्वरूप भी ऐसा ही सुन्दर हो गया है ? यह दर्पण तो वहाँ काम नहीं देता।

"कैसे देखूँ फिर उस को ?"

"जीवन के छलकते हुये कटोरे में।"

\+ + +

उसमें दीखेगा तुम्हें अपने भीतर का मलीन स्वरूप।

अपनी आत्मा की उलझी हुई अलकें, हृदय का पीत वर्ण रक्त, रसविहीन मस्तिष्क, मन-मुखड़े की मुरझाई हुई और फीकी अधर-पंखुड़ियाँ और जीवन-कपाल पर की मिटी हुई बिन्दी। जीवन के छलकते हूए कटोरे में वह सब तुम्हें स्पष्ट दीखेगा।

\+ + +

हाँ, उसी में देखकर कर्म की कंघी से अपनी आत्मा की

उलझी हुई अलकें सुलझा लेना। तप के ओज में अपने हृदय-कपोलों को लालिमा से परिपूर्ण कर लेना। ज्ञान-प्रदीप के काजल से अपने बुद्धि-चक्षुओं को सँवार लेना। आराधना के दिव्य-रंजन से अपने मानस-अधरों को रंजित कर लेना। और जीवन के ललित-ललाट पर अपनी बलि के रक्त की उज्ज्वल बिन्दी लगा लेना।

+ + +

ओह! तब तुम्हारा सौन्दर्य निःसंदेह अद्वितीय होगा। उसमें चमक होगी, माधुर्य्य होगा और होगा संसार भर के लिये आकर्षण—जिसके लिये तुम रोज़ रोज़ दर्पण देखती रहती हो।

....

यह हाट हाट में पुकार कैसी हो रही है ? क्या बिक रहा है इन हाटों में ?

यह क्यों चिल्ला रहे हैं सब दुकानदार ? क्या बेच रहे हैं, कौन सी दिव्य वस्तु है इनके पास ?

\+ + +

यह क्या ! यह तो तुम्हारे नाम की दुकानदारी हो रही है। उफ़ ! तुम्हारे नाम की दुकानदारी और केवल नाम की ही तो !

तुम क्या कोई बिकने की वस्तु हो ?

यह कितनी धूर्त्तता है; अरे ! तुम्हारे नाम की दुकानदारी !!

\+ + +

इतना साहस !

ग्राहकों को पकड़ पकड़ कर कहते हैं "अवश्य खरीदो।" उफ़ ! कहते हैं "लूट मची हैं तुम्हारे नाम की, ख़रीदो।"

तुम्हें खरीदें ? तुम भी कोई खरीदी जानेवाली वस्तु हो भला ? तुम्हें कौन खरीदें ? हम मनुष्य, कितनी अनहोनी कल्पना है।

\+ + +

लेने वाले भी कैसे झगड़ रहे हैं ! कहते हैं "सौदा महँगा है। टके कम करो।"

उफ़ ! दुष्ट टके देकर तुम्हें खरीदना चाहते हैं। ओह ! कहीं तुम टकों से मिलने वाले पदार्थ हो क्या ?

\+ + +

"न बाबा मैं तो नाम का खरीदार नहीं हूँ।"

"असल नाम है असल, अभी दिव्य-दर्शन हो जायेंगे।"

"सचमुच ?"

"देरी क्या लगे है। देख ही न लो ?"

"अवश्य। दो फिर, देर मत करो।"

\+ + +

"अभी लो मिन्टों में, पास क्या है बोलो ?"

"निर्धनता।"

"और कुछ ?"

"और शून्यता, नीरवता और बस।"

अरे निकालो द्वारपाल ! इस निर्धन भिखारी को इस हाट से निकालो। इसका नाम के दिव्य रत्नों की हाट में क्या काम ?

सौदा

"लोगे क्या ?"

"क्यों नहीं !"

"यह नकली रत्नों की हाट नहीं है।'

"बेशक।"

"यहाँ नाम की दुकानदारी नहीं होती।"

"फिर ?"

"मूल्य बहुत देना होगा।"

"एक दो (वर्ष) ?"

"एक दो की गिनती ही क्या है ?"

"चार, छै, दस ?"

"इतने में सौदा न चुकेगा।"

"बीस, बाईस, पच्चीस ?"

"माल तो क्या चुना है तुम ने; एक ही नगीना है! परन्तु दाम चुकाते यह कंजूसी क्यों ?

"आखिर तुम ही न कहो, कितना ?"

"दोगे क्या ?"

"अवश्य।"

"अच्छा तो तुम्हारे ऊपर ही छोड़ा।"

"सचमुच ?"

"दो क्या देते हो ?"

"लो अब बोलना मत।"

"यह क्या है ?"

"समूचा जीवन।"

"हैं!"

"बस, इससे अधिक मेरी सामर्थ्य से बाहर है।"

दर्शन

दिन बहुत चढ़ आया था। भगवान् आदित्य-देव की किरणें समस्त भूमि पर अपना सुनहरी जाल बिछा रही थीं। उसी समय एक पंच-वर्षीय बालिका क्रीड़ा करती, फूल तोड़ती और उन्हें बालों में सजाती हुई सरिता-तट पर आ निकली।

उस के सुन्दर मुख पर पवित्रता मानो खेल रही थी। नन्हें नन्हें कोमल अधरों की निर्दोष मन्द मुस्कान से सरिता का शान्त जल भी हिलोरित हो उठा। निःसन्देह वह स्वर्ग की ही एक आभा थी, सौन्दर्य्य की पुण्य-प्रतिमा थी और थी संसार को समुद्भासित करने वाली प्रकाश की एक उज्ज्वल रेखा।

मुझे अनुभव हुआ वही आदि-सती की सजीव मूर्ति है, वात्सल्य का स्वच्छ स्रोत है, सुख की अतुल खान है और है सच मुच सेवा का झर-झर बहता निर्मल झरना। मैंने श्रद्धा से सिर झुका लिया। आनन्द-आवेश में दोनों नेत्र मूँद लिये और देखा एक दिव्य ज्योति मेरे हृदय-सिंहासन पर आरूढ़ अपने तेजपुञ्ज से मेरी आत्मा को आलोकित कर रही है।

मानस-सरोवर में उत्पन्न भक्ति-भावना के सुन्दर सरोज को अर्पण कर मैं एक अतीत सुख-समाधि में लीन हो गया।

बुलबुले

कैसा अमृत-रस बहाया है तू ने देव ! जीवन की यह सरस सरिता कैसी ठाठें मारती हुई बह रही है !!

कितने बुलबुले उसके तल पर पैदा होते हैं, कोई गिन सकता है क्या ?

और कितनी शीघ्र आगे पीछे एक-एक कर वह मिट जाते हैं ? कितना अस्थिर और क्षणिक जीवन है उन बुलबुलों का !

फिर पैदा होते हैं, फिर मिट जाते हैं । यह क्रम कब तक जारी रहता है कोई अनुमान कर सकता है भला ?

जीवन-सरिता कितनी दूर आकर महासागर में विलीन हो गई । वह सब बुलबुले क्या हुए ? अब पैदा क्यों नहीं होते ?

अथाह महासागर में विलीन होना ही क्या उनका ध्येय था ?

\+ + +

न्याय की स्फटिक शिला पर बैठे हुये तुम यह बुलबुले बनाने का खेल क्या खेल रहे हो ?

यह अपनी दया की कटोरी में क्या भर रक्खा है ? जीवन-जल में घुला हुआ कर्म-रूपी साबुन ?

कैसे सुन्दर बुलबुले बना बना कर हवा में छोड़ते हो ? मानो इन्द्र-धनुष के सब रंग उन्हीं में भर दिये हों।

कैसे घूमते हुए अद्भुत दृश्य दीखते हैं उन बुलबुलों में !

वह छोटा सा बुलबुला हलका फुलका निर्भय हो कर हवा में तैर रह है। लो, अधिक ऊपर चढ़ने के प्रयास में वह एक टक फट गया है।

यह बड़ा सा धरती के साथ छू छू कर चलता हुआ बुलबुला कैसा भला मालूम होता है ! लो, वह भी टकराकर फक से टूट गया।

यह क्या, बनाते बनाते ही उस बुलबुले को क्यों तोड़ दिया ? वह तो बिलकुल छोटा और सादा था।

कैसी है तुम्हारी यह लीला, बनाते हो और तोड़ देते हो ! यह क्या तुम्हारी श्वास-गरिमा ही उन बुलबुलों के जीवन को अलप और दीर्घ बनाती है ?

तोड़ देना, मेरे जीवन-बुलबुले को भी शौक से तोड़ देना। परन्तु उसमें एक आध रंग तो भर दो महा-कौतुकी !

चन्द्र-देव !

यह तुम दिन के प्रकाश में कहाँ छिपे रहते हो ?
शोर और कोलाहल तुम्हें क्या बिल्कुल नहीं भाता है ?
और निशा के गहरे अटूट अंधकार में,
जब शान्ति का चारों तरफ़ साम्राज्य होता है,
तारकगण दर्शनों के लिये छटपटाने लगते हैं,
संसार थक कर, हार कर लम्बी साँसें छोड़ता है,
तब अंधकार-आवरण को हटा कर पर्वत के पीछे से
स्वच्छ नीले आकाश पर तुम चुपचाप प्रकट होते हो।
कितना उज्ज्वल और स्निग्ध है तुम्हारा प्रकाश,
कितनी स्वच्छता और शीतलता है उस प्रकाश में,
कैसा सुन्दर, नयनाभिराम स्वरूप है तुम्हारा,
कितना आकर्षण है तुम्हारे उस दिव्य-रूप में !

देखो तो कितने दौड़ पड़े हैं अपना जीवन-अर्घ लिये,
कब से भूखे प्यासे तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे थे !

जान में जान आई है उन सब के,
अत्यन्त तृप्त हुये हैं तुम्हें पाकर,
मस्ती में भूले से अपनी ही परिक्रमा लेने लगते हैं,
कैसा भोला है उनका हृदय—जैसे तुम्हारा प्रकाश।

अंधकार मिट गया है सारे संसार का,
मन का, मस्तिष्क का, भीतर का और बाहर का।

कितने ही तारों की छटपटाहट छूट गई है !
कितने ही तुम्हारे प्रकाश में अन्तर्धान हो गये हैं,
कितने ही उज्ज्वल होकर और भी चमकने लगे हैं,
और कितने ही दर्शनों के लिये दूर दूर से दौड़े आये हैं,

कोई तुम्हारे नवीन स्वरूप की पूजा करता है,
और कोई तुम्हारी भिन्न-भिन्न कलाओं पर ही मोहित है।

परन्तु मैं तो संसार को परिप्लावित करने वाले शुभ्र बादलों में,
तुम्हें छिपते देख कर ही चन्द्रदेव ! सब कुछ भूल जाता हूँ।

प्रतीक्षा

आह ! तुम नहीं आये, बारह बज गये। रात्रि की ठंडक असाधारणतया बढ़ने लगी; तो भी झरोखे में बैठी हुई मैं तुम्हारी बाट जोहती रही। शरद ऋतु की हवा का झोंका सायँ-सायँ करता हुआ मेरे पास से निकल गया। मैं समझी तुम्हारी सवारी का हरावल गुज़रा है। सूखे पत्ते हलकी ध्वनि करते हुए इधर उधर उड़ रहे थे। मुझे जान पड़ा वह तुम्हारे पैरों की आहट है।

हवा का झोंका कब का गुज़र चुका पर तुम नहीं आये। पत्तों की सरसराहट भी बन्द हो गई तब भी तुम्हारे आने का कोई पता न चला। मैं निराश नहीं हुई, कड़कड़ाती सरदी ने मुझे बल-पूर्वक भीतर धकेल दिया। मैं पलंग की पायँती पर बैठी हुई तुम्हारे आने की बाट जोहने लगी। घड़ियाल ने दो बजाये परन्तु मेरी आँखों में निद्रा नहीं थी। कमरे में लगी हुई घड़ी के साथ मैं भी तुम्हारी प्रतीक्षा की घड़ियाँ गिनने लगी।

+ + +

प्रभात के पहले पहर में कोयल की मधुर कूक ने एकाएक मुझे चौंका-सा दिया। मेरे कान मुख्य द्वार की ओर लग गये। संसार सो रहा था परन्तु मुझे तुम्हारी ही प्रतीक्षा थी।

पूर्व दिशा में उषा-लालिमा प्रकट हुई। अँधियारी दूर होकर धुँधले प्रकाश का पृथिवी पर विस्तार होने लगा। मेरी दृष्टि खुले हुए झरोखे में से बाहर गयी। प्रातःकाल का सुगन्धित समीर मंद चाल से प्रवाहित था। मुझे आभास हुआ यही तुम्हारे आने का सुन्दर सुहावना समय है। मैं शीघ्रता से उद्यान में गई और चमेली के कुछ फूल तोड़ लाई। तुम्हारे आने की खुशी में मदोन्मत्त मैं फूलों का हार पिरोने लगी।

हार बन गया। फूल भी खतम हो गये परन्तु तुम नहीं आये।

\+ + +

मैं निराश हो गई। एक दीर्घ निश्वास लिया। नेत्रों में आँसू भर आये। हृदय टूट कर चूर-चूर हुआ ही चाहता था कि किसी ने उसे एकाएक भीतर से पकड़ लिया। मेरी दृष्टि घूमी और उन्हें अपने हृदय के एक निभृत कोण में छिपे हुए देखकर मेरे हर्ष की सीमा न रही।

जीवन-सर्वस्व को पाते ही आत्मा में सुख का संचार होने लगा। निराशा-अंधकार मिट गया। विरह-अग्नि शान्त हुई।

हृदय की बंद कली खिल उठी। प्रेम में मतवाली एकटक उसी ओर देखती रही। उन के स्वागत में खड़े होने का भी ध्यान न रहा। हार जो इतने परिश्रम और इतनी श्रद्धा से तय्यार किया था, अनजाने में अपने गले में ही डाल लिया।

वह मुस्कराये और चुपके से मेरा हाथ अपने हाथ में ले लिया; मेरे सारे शरीर में बिजली की लहर दौड़ गयी। उन्होंने मेरे गले से हार उतार कर अपने गले में पहन लिया। मैं सकुचा कर पानी पानी हो गयी।

मेरे पास था ही क्या ? आँखों के छलकते अश्रुदल कपोलों पर ढुलक आये। हृदय जोर-जोर से धड़कने लगा। उन्होंने दोनों हाथ मेरे कंधों पर रखकर मेरी आँखों में आँखें डालते हुए कहा "अब तुम एक अभय-प्रेम-राज्य में वास करती हो।"

मैं उनके वक्षस्थल से चिपट गई, और बोली—अब आपको न जाने दूँगी।

?

ज्ञान के सुप्रभात में ही आ पहुँचे हो ? मैं तो अभी पूजा की सामग्री जुटा ही रही हूँ। ठहरो, थोड़े ज्ञान-पुष्प कर्मोद्यान से एकत्रित कर लाऊँ। फिर पूजा को तुम्हारे साथ चलूँगी।

ओह ! तुम ने मेरी पूजा की सब सामग्री क्या कर दी ? मेरा रक्खा हुआ प्रसाद सब उड़ा गये हो। यह फूल भी मेरे हाथों से बल-पूर्वक छीनना चाहते हो क्या ? कहीं के चतुर ! यह सब तो देव-पूजा की सामग्री है। ओह ! तुम यह सब क्यों लिये जा रहे हो ?

पूजा नहीं करने दोगे ? तुम पूजा से रोकने वाले कौन हो ?

\+ \+ \+

तप की इस दोपहरी में तुम फिर आ गये हो ? मेरे हाथों में पड़ा हुआ जीवन का कटोरा तो अभी खाली ही है। क्या यह कटोरा न भरने दोगे ? छोड़ो कौतुकी कहीं के !

मेरी ओर क्यों देख रहे हो ऐसी रस भरी आँखों से ? तप की इस दोपहरी में अपने तेजस्वी मुख मंडल को मेरे सामने क्यों

ला रहे हो ? ओह ! तम्हारे नेत्रों में कितना मद है ! तम्हारे मुख मंडल में कितना आकर्षण है !!

लो देखते-देखते चुपचाप ही मेरा मन चुरा ले गये। इस प्रकार वशीभूत करके दिल चुराने वाले तुम चितचोर कौन हो ?

\+ \+ \+

क्या साधना की अँधेरी रात में भी यहीं मौजूद हो ! सुख-समाधि में लीन नहीं होने दोगे ?

हटो, मुझे कल के नवीन कार्य के लिये विश्राम की सम्पत्ति बटोर लेने दो। दिन भर कौतूहल मचा कर भी शान्त अंधकार में तुम्हें उत्सुकता क्यों हो रही है ?

यह किस चीज़ की सुगन्धि तुम ने चहुँ ओर फैला दी है ? मेरा सुषुप्त आत्मा एक बार ही उससे महक उठा है।

जबरदस्ती मेरी अन्तरात्मा पर भी आधिपत्य जमाना चाहते हो ? मेरी अमूल्य आराध्य-पूँजी को मेरे सामने ही लूटने वाले तुम कौन लुटेरे हो ?

ओह ! यह चारों तरफ़ कैसा दिव्य-प्रकाश कर दिया है ! मेरे आत्म-मन्दिर में बल-पूर्वक घुस कर वर्षों से सुरक्षित कलिका-रूप भक्ति को हरने वाले हरैया तुम कौन हो ?
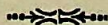
अन्तिम आवाहन

रात के ग्यारह बज गये। चारों ओर सुनसानी फैल रही है। बाज़ार जिनमें कोलाहल के कारण कान फटे जाते थे, अब मरघट की तरह ख़ामोश हैं। गहरा अंधकार फैल रहा है। पशु-पक्षी और मनुष्य, सब पर निद्रा देवी का अधिपत्य है। स्थिर-पवन शान्त-रात्रि की निस्तब्धता को और भी बढ़ाता है।

किन्तु नीलगूँ आकाश पर तारे किसी की उज्ज्वल-स्मृति में अब भी छटपटा रहे हैं। लो ! उनके देव ने अपने दर्शनों से उन्हें कृत्य-कृत्य कर दिया और वह इसी हर्ष में मुझ से आँख-मिचौनी करने लगे हैं।

+ + +

रात आधी से ऊपर गुज़र चुकी। ख़ामोशी अपने पूरे जोबन पर है। चहुँ ओर चाँदनी छिटक रही है। तपोभूमि शुभ्र-चन्द्रिका की चादर ओढ़े निद्रा-निमग्न दीखती है। नदी के सुहावने तट पर हरे-हरे वृक्ष फलों से लदे खड़े हैं। पानी कल-कल करता हुआ बह रहा है।

इस शुद्ध-शीतल-जल-प्रवाह के पुलिन पर न जाने कितनी बार कितने ही संतप्त हृदयों ने शान्ति पाई, सहस्रों सतृषण

आत्माओं की प्यास बुझी और कर्म-क्षेत्र के भूले-भटके पथिकों को फिर से जीवन प्रदान हुआ।

मैं मंत्र-मुग्ध पुष्प-लताओं के प्रतिबिम्ब की ओर एकटक देख रहा था। लहरें एकाएक चंचल हो उठीं। एक मोहिनी मूर्त्ति उनमें छिपी हुई दृष्टि-गोचर हुई।

मैं भी चंचल, नदी की लहरें भी चंचल और उनके नीचे वह सौन्दर्य की प्रतिमा भी चंचल! मैंने समझा मैंने पा लिया। इतने में न जाने वह मूर्त्ति कहाँ विलीन हो गई। मेरे हृदय से आह निकली और निस्तेज नेत्र आकाश की ओर उठ गये। बादल का टुकड़ा हट चुका था। चन्द्रमा व्यंग्य-पूर्ण दृष्टि से मेरा ओर निहारने लगा।

+ + +

प्रभात का समय कैसा आनन्ददायक है! कोयल की मधुर कूक और बाँसुरी की सरस तान एक दूसरे में ऐसी समाई कि गंगा-यमुना की तरह उनमें भेद करना असम्भव है। छोटी-छोटी चिड़ियाँ अपने घोंसलों से निकल वृक्षों की डाली-डाली पर फुदकती और चहकती फिरती हैं।

कोकिला गा रही है। चिड़ियाँ भी गा रही हैं। वृक्षों का पत्ता-पत्ता प्रकृति के संगीत की मस्ती में झूम रहा है। पाषाण भी शान्त स्वर में किसी गुप्त शक्ति की महिमा का विस्तार कर रहे

हैं। दूर से वीणा की झंकार के साथ ही किसी के सुकोमल कंठ की रसीली तान सुन पड़ी। हृदय का तार-तार बज उठा। मैं उछल पड़ा और सब के साथ मेरी आत्मा भी जीवन का राग अलापने लगी।

\+ \+ \+

पूर्व में गगन-स्पर्शी पर्वतमालाएँ एक से दूसरे सिरे तक फैलती चली गई हैं। एक प्रकाश-मयी ज्योति सिर पर सुनहला मुकुट धारण किये आविर्भूत हुई। निःसंदेह वह कितने विशाल हृदय से विश्व-भर को स्वर्ण-कण प्रदान करती है। नहीं नहीं, प्राणि-मात्र को जीवन दान देती है।

अंधकार, भेद खुल जानेवाली असती की तरह लज्जित होकर, नीलाम्बुपूर्ण अथाह समुद्र में डूब गया। धीरे-धीरे उज्ज्वल प्रकाश और ज्ञान का आधिपत्य हो रहा है।

तलहटी में सुन्दर सुरम्य भूमि पर ऋषि-मुनियों की पवित्र कुटीरों से विश्वव्यापी यज्ञों का सुगंधित धुआँ निकल रहा है। वेद-मंत्रों की मनोहर गूँज से सब दिशायें प्रतिध्वनित हो उठीं।

मानवी-प्रेम का वह अद्भुत दृश्य देख मेरे नेत्र भर आये। हृदय पुलकित हो उठा। सुरभित पवन का एक झोंका आया और उसके शीतल स्पर्श से मेरी सुख-समाधि टूट गयी।

\+ \+ \+

अधखिले-फूल

आकाश बालक के निर्दोष हृदय की तरह बिलकुल स्वच्छ था। सामने तान-तरंगिणी भागीरथी कल-कल करती बह रही थी। पृथिवी-साध्वी के कमनीय अंगों पर ओस-कण रवि-लाली से जगमगा रहे थे। नेत्रों के छलकते हुए आनन्द-सुधा बिन्दुओं में किसी दिव्य-मूर्ति की झलक दिखाई दी। स्मृति फिर जाग उठी।

जीवन-संगीत की मर्म-ध्वनि भी सुन पड़ी। सौहार्दतम के पुण्य-पावन-संगम पर किसी के आने की आहट आई। दो कोमल हाथ मेरी ओर बढ़े। आत्म-विस्मृति में मैं भी एकाएक उठ खड़ा हुआ।

नींद खुल गई और देखा कि बिछौना आँसुओं से भीगा है। क्या सचमुच उस विश्व-प्रसूता आराध्य-देवी का यह अन्तिम आवाहन था ?

जीवन-नौका

खोल दूँ, इस घोर अँधेरी रात में भव-सागर के ऊपर अपनी
जीवन-नौका को छोड़ दूँ ?
कहाँ किधर जाना है कुछ भी तो पता नहीं !
कब किस किनारे लगूँ यह भी कौन जानता है ?

+ + +

आकाश पर तारे मेरी लम्बी यात्रा की बेसरोसामानी पर ही
मानो हँस रहे हैं।

रात्रि का अंधकार मेरे जीवन की शून्यता को देख कर और भी निस्तब्ध हो गया है।

तट पर खड़ी प्रकृति बालू का भीगा हुआ आँचल पसारे मेरी क्षुद्रता पर करुणा के आँसू बहा रही है।

\+ \+ \+

छोड़ दी, जीवन-नौका आखिर काल की विकराल लहरों पर छोड़ दी।

चप्पू—क्या चप्पू नहीं हैं ?

लाया तो था। कहाँ, नहीं—अब क्या होगा ?

किनारे से कितनी दूर आ चुकी है यह जीवन-नौका! पानी कितना गहरा है !!

वापिस लौटूँ ? कैसे लौटूं ? चप्पुओं के बिना कैसे लौटा जायगा ?

\+ \+ \+

यह क्या बादबान भी फटा हुआ है! भारी अनिष्ट।

अब क्या है! इसे सीने का सामान तो साथ लिया ही न था।

बादबान भी फटा होगा यह ख़याल तो चलते समय बिलकुल न हुआ था।

तेज़ हवा के झोंकों से यह तो और फटा जा रहा है।

जीवन-नौका अब भव-सागर से पार कैसे होगी ?

\+ \+ \+

नौका में जल भर रहा है क्या ! बहुत भर गया !!

कहाँ, इस नौका में तो किसी छेद का गुमान तक न था। यह नौका तो पुरानी न थी।

तो क्या पहले जल निकालूँ ? अच्छा !

परन्तु वह······वह जल निकालने का क्या हुआ ! वह भी रह गया ? वह था ही कहाँ ?

सर्वनाश !

\+ \+ \+

अंधकार क्यों बढ़ रहा है

तारे टूट कर सागर में क्यों डूब रहे हैं !!

यह क्या, काल की आँधी एकाएक कहाँ से आ खड़ी हुई !!!

लो, आशा प्रदीप भी बुझ गया।

यह······यह जीवन-नौका सचमुच डूब रही है !

\+ \+ \+

स्मृति

छोटी-सी कोमल शाखा पर तुम्हारा अर्ध-विकसित स्वरूप कितना सुन्दर और प्यारा लगता था! संसार को आशा हुई थी कि फूल खिलकर चिरकाल तक उद्यान की शोभा बढ़ायेगा।

परन्तु तुम्हारे स्वच्छ हृदय में क्या उत्सर्ग भरा था यह कोई न जानता था। तुम अर्ध-विकसित अवस्था में ही अपने गुलाबी अधरों पर मंद मुसकान लिये हुए जीवन-शाखा से टूट कर गिर पड़े।

तुम्हारा सौंदर्य्य, तुम्हारा रूप, तुम्हारा यौवन, तुम्हारा सौरभ सब धरती के चरणों में अर्पित हो गया। उसी से सब कुछ पाया था उसी जगदम्बा को सर्वस्व भेंट कर दिया।

तुम्हारा अस्तित्व अब संसार में नहीं रहा है, तो भी तुम्हारे जीवन की मधुर-स्मृति तो बराबर बनी ही है। मिट्टी में मिलकर भी तुमने अपनी स्वाभाविक सुगन्धि को एकाएक नहीं छोड़ दिया है। तुम्हारी स्नेह-सुरभि आज भी चहुँ ओर वायु-मंडल में फैली हुई है।

ओ धूलि-धूसरित फूल ! तुम्हारे जीवन का वह मृदुल स्मृति-सौरभ, और गिरते समय की मंद मुस्कान का वह हलका प्रकाश अब भी मेरे हृदय-सरोवर पर आच्छादित हो रहे हैं। क्या वह कुछ काल और स्थिर रह कर मेरे जीवन की रही-सही घड़ियों को सुगन्धित और प्रकाशित रखने में समर्थ न होंगे ?

अहंकार

अरे भाई ! इसे क्यों मारते हो, नन्हाँ सा तो है ?

फनदार है फनदार । छोटा हुआ तो क्या, बहुत ज़हरीला है । बड़ा होकर यही कितनी विकराल फुंकारें मारेगा ! उस अनिष्ट को अभी से क्यों न टाल दें ?

छोड़ो भाई ! तुम्हारा क्या बिगाड़ता है ?

तो क्या इसे पलने दूँ ? हरगिज़ नहीं । काँख में भला साँप पालूँ ?

दाँव चले तो मुझ को ही काट खाने में दरेग़ न करे ।

तो जंगल में ही क्यों नहीं छोड़ आते ?

इस बात का ही क्या प्रमाण है कि वहां से लौट कर फिर नहीं आयेगा ? अब भी तो कहीं इधर-उधर जंगल से ही आया है ।

मार दो फिर । मार कर ऐसा गहरा गाड़ देना कि किसी राह चलते को इसका विष न छू जाये । और देखना जिस दंड से मार रहे हो उसे भी नम्रता के जल से अच्छी तरह धो डालना ।

परदा

कहां उठा है परदा ? कौन सा परदा ?

क्या हमारी मान मर्यादा का परदा, श्रद्धा का परदा, भक्ति-भावना का परदा, लाज और शरम का परदा !

आह ! वह सब क्यों उतारा ? वह तो न उतारना था। नग्न-आत्मा, नग्न-हृदय और नग्न-जीवन तो न होना था। अब कैसे जाओगे, उसके भरे-पूरे दरबार में नग्न-अवस्था में कैसे जा सकोगे ?

पहनो, यह सब तुम्हें किसने कहा था उतारने को ? सभ्य समाज में बैठने के लिये, घर-गृहस्थ में रहने के लिये और सबसे बढ़कर आयोजित महायज्ञ में सम्मिलित होने के लिये यह सब तुम्हें पहनने होंगे। संसार नग्न देख कर तुम्हें क्या कहेगा ?

\+ \+ \+

लो, यह सब क्यों नहीं उठाया ?

यह अविश्वास का लम्बा घूँघट, निर्बलता की फटी-पुरानी ओढ़नी और अविद्या का काला बुरका; और कभी-कभी आलस्य की चद्दर में मुँह लपेट कर गठड़ी-सी होकर पड़े रहना, कपट के बारीक दोपट्टे से एकाएक मुख को ढक लेना और यह संकोच संकीर्णता, पक्षपात इत्यादि बंद गाड़ियों, बहलियों और डांडियों का उपयोग क्यों न छोड़ा ?

यह सब परदे उठाये होते तो हमारे मुख-मंडल आज इस प्रकार निर्जीव व पीतवर्ण न होकर प्रफुल्लित और लालिमामय होते। यह सब परदे क्या न उठाओगे ? यही तो उठाने थे। संसार के साथ एक ही कुरसी पर बैठना चाहते हो तो समय-अनुकूल यह सब छोड़ना होगा।

चन्द्रोदय

बर्षों से आशा-प्रदीप के धीमे-धीमे प्रकाश में यह जीवन-रथ कर्म-पथ पर चलते हुये अपने परम-उद्देश्य की ओर अग्रसर हो रहा था। एकाएक बहुत दूरी पर पंचनद प्रदेश के ऊपरी भाग में पर्वत-मालाओं के पीछे दूज के चन्द्रमा ने प्रकट होकर एक नवीन सुधा-रस बहा दिया। जीवन का चिर-कालीन अंधकार दूर होकर स्वच्छ शीतल ज्योत्स्ना का साम्राज्य फैलने लगा।

इसी बीच में पवन के एक तेज़ झोंके ने मेरे टिमटिमाते आशा-प्रदीप को बुझा दिया। चन्द्र-ज्योति और भी उज्ज्वल हो

उठी। आम्र-वृत्त की डाली पर बैठी हुई कोयल ने कू-कू के शब्द से रजनी की निस्तब्धता में स्वर्ग-लहरी का सम्मिश्रण कर दिया। मैंने ऊपर देखा। आकाश पर तारकगण मुर्झाये चेहरों से दर्शा रहे थे कि वह सब इतनी संख्या में मिलकर भी चन्द्र की अनुपम छटा के सामने तुच्छ हैं।

मुझे अपने आशा-प्रदीप के बुझने का तनिक भी शोक न था। मेरे सम्मुख मेरे भविष्य-आकाश पर उस चारु-चन्द्रोदय से मेरा मानस-मन्दिर एक बारगी प्रकाशित हो उठा था। मैंने सहर्ष स्वागत करते हुए अर्घ-रूप में अपना हृदय अर्पण कर दिया। वह समय कैसा शुभ और वह घड़ी कितनी आनन्द-दायिनी थी!

अपने मन-मन्दिर में पीयूष-प्रसाद पाकर एक बार समस्त शरीर झूमने लगा। मैंने अनुभव किया कि प्रकाश की वह स्वर्ण-रेखा बढ़ते बढ़ते सोलह कला सम्पूर्ण हो गई हैं। पूर्णिमा की पूर्ण-चन्द्र ज्योति में मेरा हृदय-कुमुद एक बारगी खिल उठा। उसी दिव्य-प्रकाश में दूर सामने उद्देश्य-अट्टालिका भी चमकने लगी।

इतने में ध्यान ऊपर गया। पर्वत की ओट से बादल का एक टुकड़ा उठा और मेरे देखते ही देखते उसने उदय हुई चन्द्र-ज्योति को अपने आवरण में छिपा लिया। मन शंकित-रूप

से कम्पायमान हो उठा । तब क्या दिन के उज्ज्वल प्रकाश के पश्चात् निशा के घोर अंधकार का आविर्भाव अनिवार्य है ?

इसी बीच में पार्वत्य मेघ का टुकड़ा वर्षा के रूप में नीचे उतरने लगा । मुझे ऐसा आभास हुआ कि उसे मेरे जीवन से हार्दिक सहानुभूति हुई है । मेरे नेत्रों का अश्रु-प्रवाह भी न रुक सका । दोनों जल धारा-रूप में पर्वत की घाटी में बह निकले । मैंने समझा आई हुई सारी घटा इसी प्रकार कदाचित बरस कर भविष्य-आकाश को निर्मल कर देगी ! जिससे मेरा हृदय-चन्द्र धुल-धुला कर और भी चमक उठेगा ।

बादल सचमुच हट गया । परन्तु आह ! आकाश चन्द्र-विहीन हो चुका था । दूर पश्चिम में पर्वत-शृंखला के पीछे आकाश की अन्तिम छोर पर लालिमा की छोटी सी रेखा दीख पड़ी । क्या मेरे हृदय-चन्द्र के आशा-रक्त का ही वह एक अन्तिम छींटा न था ?

क्या आज मेरे जीवन-आकाश का चारु-चन्द्र भी अतीत की पर्वत-मालाओं के पीछे सदा के लिये विलुप्त नहीं हो गया ? कितना घोर अंधकार है ! आशा-प्रदीप का अल्प प्रकाश भी तो उपलब्ध नहीं है क्या वह भविष्य में किसी अमृत-ज्योति से प्रज्ज्वलित किया जा सकेगा ?
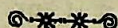
निराशा

इस उजियाले दिन में भी यह अंधकार कैसा ?

काले बादल एकाएक निर्मल आकाश पर आच्छादित हो गये हैं। सूर्य्य जैसे प्रचण्ड प्रकाश-पुञ्ज को भी उन्होंने अपने आवरण में छिपा लिया है। चारों तरफ़ कैसा अंधकार हो रहा है !

उफ़ ! इस श्याम-मेघ-मंडली के साथ ही तेज़ आँधी भी ग़ज़ब ढा रही है। हवा-मिट्टी के ज़ोर से नेत्र खुलने नहीं पाते। अब क्या होगा ? जीवन का कार्य्य कैसे चल सकेगा ? भीतर और बाहर दोनों स्थानों पर ही तो अंधकार छा रहा है !

क्या दिन भयानक रजनी का रूप धारण कर रहा है ? क्या यह सब प्रलय के चिह्न हैं ?

\+ \+ \+

लो, हवा में अटके हुये जल-बिन्दु टप-टप गिरने लगे। ओः! अब तो मूसलाधार वृष्टि भी होने लगी। पानी कैसे गंगा यमुना की धाराओं के रूप में बह रहा है।

अब तो कहीं-कहीं हलके श्वेत-वर्ण बादलों के टुकड़े ही उड़ रहे हैं। आकाश धुल-धुला कर कैसा हलका और स्वच्छ दीखता है और सूर्य्य की किरणें उन हलके श्वेत बादलों के टुकड़ों में से छन छन कर कैसा उज्ज्वल रूप धारण कर लेती हैं! जल-स्नान से मानों उनका शरीर भी शीतल हो गया है। कहीं-कहीं बादलों के छोटे-छोटे टुकड़े अपनी सुनहरी कोरों के साथ उड़ते हुए अत्यंत सुन्दर मालूम पड़ते हैं।

ओहो! हवा किस तरह सब बादलों को उड़ा ले गई। आकाश पर अब एक भी तो आवरण नहीं। सूर्य्य की किरणें किस प्रकार पहले की तरह ही सारे विश्व को प्रदीप्त कर रही हैं। उनके प्रकाश में नवीनता का कैसा सुन्दर आभास हो रहा है!

एक बार फिर जीवनों में स्फूर्ति आई; और संसार के कार्य पहले से अधिक उत्साह के साथ सम्पन्न होने लगे।

जलना

दीपक जलता है
किसी के ग़म में घुल-घुल कर,
संसार का अंधकार मिटाने के लिये।
कैसा उजियाला है उसके जलने में!

पतंग जलता है
दीपक के प्रकाश पर मोहित होकर,
अपना आप बलिदान करने के लिये।
कैसा उत्सर्ग है उसके मरने में!

परन्तु मनुष्य जलता है
दूसरे की रूप-राशि को लूट कर,
औरों को केवल जलाने के लिये।
कितना विषाद है उसके जीने में!
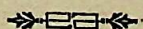
अनावृष्टि

घोर अनावर्षण से इन्द्रदेव! यह लहलहाती पुण्य-भूमि वीरान मरुस्थल में परिणित हो रही है। देखो तो, जीवन के छोटे बड़े कर्म-क्षेत्र सभी उजाड़ पड़े हैं।

बेकस और बेबस दुबले-पतले किसान डबडबाये लोचन उठा तरसती दृष्टि से भविष्य-गगन पर उड़ते हुये भाग्य के मेघों को कब से देख रहे हैं! एक बार तो अमृत-निधे! अपने अमृत-रस की अनवरत वृष्टि से इस शुष्क कर्म-हीन भूमि को हरा भरा कर दो।

अपनी स्नेह-सुधा के कुछ छींटे ही बरसा दो देवराज! इसी से कदाचित पनप कर यह सूखी खेती रमणीय तपोवन और उपजाऊ वीर-भूमि के रूप में सुन्दर-सुगन्धित सुमनों का विकास करने लगे।

जीवन-प्रदीप

जीवन-प्रदीप क्यों बुझ रहा है ?
मेरी इस नन्हीं सी कोठरी में भी अब अँधेरा होने लगा है।
ओह ! एक दीर्घ श्वास ले यह तो बिल्कुल ही बुझ गया है।
उसकी शोणित शिखा भी अब तो ठंडी हुई जा रही है।

+ + +

दीपक कैसे बुझ गया ?
कहाँ, तेल तो मैंने दिन ढलने से पूर्व ही भरा था। वह सब कैसे चुक सकता है भला ?
बत्ती भी नई ही डाली थी। उस समय कितनी लम्बी दीखती थी !
दीपक भी तो पुराना न था। जब आया था सब देख कर कितनी प्रशंसा करते थे !

हवा भी कहाँ चली है ? एक पत्ता तक नहीं हिल रहा। तब किसने बुझाया मेरे इस प्रज्ज्वलित दीये को ?

\+ + +

यह नैपथ्य में अट्टहास कैसा ?
अंधकार में तांडव-नृत्य कौन कर रहा है ?
क्या मृत्यु !
उफ़ ! यह जीवन-प्रदीप तो उसी के आँचल से बुझा दीखता है।
प्रकाश में तो यह आँचल कहीं भी न दीखता था। अंधकार में आँचल पसारे जाती हुई अब वह कैसी स्पष्ट दीख रही है !

\+ + +

पहाड़ जैसी लम्बी अँधियारी रात कैसे सहमे हुए जी से कटी है !
लो, एकाएक चहुँ ओर धुँधला प्रकाश होने लगा है। किसी नवीन सुप्रभात का प्रादुर्भाव हो रहा है कदाचित् !
इस शुभ्र उजियाले में अपना क्षुद्र दीया जलाने का परिहास कौन करेगा भला ?
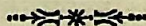
उलझा हुआ आँचल

कंटकमय झाड़ियों में मेरा आँचल कब से उलझ रहा है! असंख्य काँटों से वह अब तक कितना विदीर्ण हो चुका है !!

आह ! यह फटा हुआ छिद्रों वाला आँचल ले कर मैं उनके सम्मुख भला क्योंकर जाऊँ ?

\+ + +

काँटों में खिले हुए वनपुष्पों के सौंदर्य-जाल में ही मेरा आत्मा एकाएक जा फँसा। उनकी भीनी-भीनी सुगन्धि अब भी अपनी लपटों में मेरे मन-मधुकर को अटकाये हुये है। हाय ! मैं ने फूल लेने के प्रयास में अपना आँचल अनायास ही कँटीली झाड़ियों में उलझा लिया।

\+ + +

जीवन के धवल आँचल को काँटों से छुड़ाने में मेरे विधाता ! अब तो सहायता करो, नहीं तो यह रहा सहा भी चीथड़े-चीथड़े होकर मेरी लज्जा तक निवारण करने में असमर्थ हो जायेगा।

लक्ष्यहीन धारा

यह सब धारायें विशालकाय हिमगिरि की शुभ्र-श्वेत गोद, फूल और फल विलक्षण हरी भरी वादियों के सुन्दर-सुहावने दृश्य छोड़ कहाँ जा रही हैं ? वह सब त्याग कर संसार को परिप्लावित करते हुए सीमा-रहित अथाह महा-सागर में विलीन होना ही उनका एक-मात्र लक्ष्य है क्या ?

\+ + +

परन्तु जीवन की यह चंचल धारा किस ओर आ निकली है ! कब से इसी तरह प्रवाहित है तो भी परम-पयोधि से अभी कितनी दूर है ! जीवन-सिन्धु में सम्मिलित होने का सौभाग्य क्या सचमुच ही इसे प्राप्त नहीं होगा ? और लक्ष्यहीन यह धारा अकर्मण्यता के चटियल रेगिस्तान में ही विलुप्त होकर अपनी परिसमाप्ति कर देगी क्या ?

आशा

विश्व-विमोहिनी आशे ! सुनहरी पंख फैलाये सदा हो तुम मेरे जीवन-गगन पर स्वतन्त्ररूप से उड़ती रहती हो। और कभी कभी तो नीचे उतर कर मेरे मानस-सरोवर पर सुन्दर मराल की तरह तैरने लगती हो तब तुम्हारे विलक्षण स्वरूप को और भी निकट से देख मैं अपना आप भूल जाता हूँ।

\+ \+ \+

तुम्हारे अभाव में आशा ! जीवन तो रूखा फीका और निःसार सा ही है। चारों तरफ़ फैले हुए अंधकारमय निर्जन घने वन में भूले भटके पथिक की तरह मैं मार्ग टटोलता रहता हूँ। परन्तु आशे ! तुम मेरी पथ-प्रदर्शिका होकर एकाएक मुझे कल्पनाओं के स्वर्ग में ला खड़ा करती हो।

\+ \+ \+

अध-खिले फूल

कैसे सुन्दर दृश्य चारों तरफ़ आ उपस्थित होते हैं ! जीवन सचमुच अलौकिक रंगों से रंजित दीखने लगता है। कामनाओं का उजाड़ बियाबान रमणीक उपवन में परिणित हो जाता है। और निराशा-रजनी के गहरे तिमिर को दूर करती हुई भविष्य के क्षितिज पर उषा-सुन्दरी के रूप में प्रकट होकर आशा ! तुम मेरी अभिलाषाओं के साम्राज्य में एकबारगी उजेला कर देती हो।

\+ + +

आज आयु के संध्याकाल में भी तुमने मदमाते जीवन से छलकता हुआ प्याला मेरे शुष्क अधरों पर लगा दिया है। अहो ! अद्भुत वेष-भूषा में तुम्हारे विकसित यौवन और निखार को देख आज फिर मैं इस लोक में सुन्दर भवनों की रचना के सपने लेने लगा हूँ और कभी-कभी तो सुरलोक तक पहुँचने के लिये भी बड़े-बड़े पुल बांध लेता हूँ।

\+ + +

आशा प्यारी ! आओ, मेरे अन्त:पुर में प्रवेश कर स्थायी रूप से वहाँ की निवासिनी बनो । तुम्हारा निरन्तर सहवास हो मेरे हृदय के संकल्प-तरु को सदा हरा-भरा रक्खेगा। और कौन जाने समय आने पर उस पर एक आध प्रत्याशा-कुसुम खिलने का सौभाग्य भी मुझे प्राप्त हो ही जाये।

जीवन का मर्म

नन्हीं कलियों ने प्रभात के हलके प्रकाश में पदार्पण करते हुये एक दिव्य दृश्य देखा। वह हर्षोल्लास से चहक उठीं। यह जीवन के उत्सर्ग की सुन्दर भावना थी। एक-एक कली अब मन्दोन्मत्त, विकसित पुष्प बन गई। परन्तु जीवन के उच्च आदर्श-भार से वह और भी विनम्र भाव से झुक गई।

अधखिले-फूल

एक पुष्प ने किसी सुकोमलांगी रमणी के वक्षःस्थल पर सुशोभित होकर उसे सौंदर्य प्रदान किया। अपने रूप और रस की आहुति देते हुये वह मुरझा कर निर्जीव हो गया। त्याग का अनुपम उदाहरण था।

एक पुष्प ने देवता के श्री-चरणों में पहुँच कर ही सौभाग्य माना। निकृष्टतम स्थान मिलने पर भी उसके मुख की मंद मुस्कान में कोई भावान्तर पैदा नहीं हुआ। मौन सेवा का सचमुच सुन्दर दृश्य था।

एक पुष्प पवन के प्रबल झोंके से निकटवर्ती किसी जीर्ण समाधि पर गिर पड़ा। उस निर्जन स्थान पर उसके उपकार को देखने वाला कोई न था। तो भी वह शोक की मूर्ति बन कर अपनी हार्दिक सहानुभूति का परिचय बराबर दे रहा था।

एक स्थान पर एक पुष्प को प्रचण्ड अग्नि का दारुण ताप तक सहन करना पड़ा। परन्तु उसने उफ़ तक नहीं की और अपना सौरभ-सर्वस्व देकर तप की श्रेष्ठता का जीवित प्रमाण प्रस्तुत किया।

\+ + +

इसी समय एक नन्हें बालक ने पेड़ की डाली से एक नव-विकसित कलिका को तोड़ कर अपने निर्दोष हाथों में मसल डाला। एक-एक पंखुड़ी अलग होकर गिर पड़ी। परन्तु उसका

प्रेम-पराग और भी महक उठा। जड़ पुष्प का वह अनुराग देख कर मैं चकित हो गया। मुझे अनुभव हुआ तप, त्याग, सेवा और अनुरागमय जीवन की तुलना में मानव तपस्वी, त्यागी, सेवक और प्रेमी पुष्प के सम्मुख हेच हैं।

मैंने झुक कर ध्यान से देखा तो एक-एक पुष्प पर ओस के अश्रुकण पड़े हुये थे। सुगन्धित समीर ठंडी निश्वास ले ले कर रह जाता था; और प्रातःकाल की निस्तब्ध शान्ति करुणा का आँचल पसारे आन्तरिक व्यथा का दिग्दर्शन कर रही थी।

जीवन का वास्तविक मर्म भी तो सचमुच यही है कि मनुष्य स्वयं तप, त्याग, सेवा और प्रेम की कड़ी परीक्षाओं में विकसित पुष्प की तरह मंद मुस्कान से हंसे। और संसार उसकी निःस्वार्थ-बलि पर अश्रु-अर्घ अर्पण करे।

मानव-मन्दिर

तुम्हारे ही तो यह सब मन्दिर हैं।

कैसे सुन्दर हैं! और कितनी अमूल्य सामग्री तुमने लगा रक्खी हैं अपने इन मन्दिरों में !!

कितने मन्दिर बनाते हो तुम, कुछ ठिकाना है! विश्व का कोई कोना भी तो खाली नहीं छोड़ा। मानव-धर्म से तुम्हें कितना गहरा अनुराग है, यह सब इन असंख्य मनोज्ञ-मन्दिरों की स्थापना से स्पष्ट प्रकट होता है।

+ + +

कभी-कभी जब तुम उज्ज्वल रूप धारण कर किसी मन्दिर में साक्षात आ विराजते हो तो कैसे सुन्दर और भले मालूम होते हो !

वह मन्दिर भी तब तुम्हारी दिव्य छटा से जगमगा उठता है। निःसंदेह कितना बड़ा भाग्य है ऐसे मन्दिरों का !

\+ \+ \+

यह टूटा फूटा मन्दिर भी तो तुम्हारा ही बनाया हुआ है। इसकी भी कभी सुध लोगे ?

प्रकाश में न सही, अँधेरे में ही एक बार इसमें झाँक तो दो ! नहीं तो क्या आवश्यकता है इस टूटे फूटे मन्दिर की ? इसे तोड़ कर इसकी ईंटों के चूर को किसी नवीन मन्दिर की नींव में क्यों नहीं डाल देते मेरे देव !
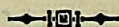
चतुर-वैद्य

कितने चतुर वैद्य हो तुम !

किसी को ऐसी मीठी औषधि देते हो कि वह माँग कर खाने लगता है और किसी को ऐसे कड़वे घूँट पिलाते हो कि कंठ से नीचे उतारने कठिन हो जाते हैं। परन्तु तुम तो रोग के अनुसार ही उपचार करते हो। किसी को मीठी और किसी को कड़वी से ही लाभ होता है।

कभी-कभी तुम अपने चातुर्य्य का विशेष तौर पर प्रदर्शन करते हो। कड़वी दवाई को मीठे शरबत में घोल कर पिलाते हो या उसकी गोलियाँ बनाकर शक्कर में लपेट कर देते हो। ऐसी औषधि को सभी चाव से खाते हैं।

परन्तु कड़वी भी तो तुम रोगी के लाभ के लिये देते हो। कोई पीते समय भले ही नाक-भौं चढ़ाये और रोने भी क्यों न लगे पर तुम उसे पिलाये बिना कहाँ छोड़ते हो। और कभी-कभी तो बड़े-बड़े हठियों को बलपूर्वक लिटा कर पिला देते हो। वह रोता है तो रोये। तुम्हें तो उसका हित ही स्वीकार है। कड़वी हुई तो क्या ? कड़वी औषधि तो शीघ्र लाभ करती है।

परन्तु तुम्हारी वास्तविक चतुरता उस समय देखने में आती है जब तुम किसी रोग के निवारण के लिये चीर फाड़ करते हो। मित्र और सम्बन्धी देखकर घबराने लगते हैं। परन्तु चीर-फाड़ करना वैद्य का तो काम ही ठहरा। एकत्रित हुये विष और सड़े गले मादे को पृथक् कर देना ही उचित है। रोगी के भविष्य जीवन की रक्षा के दया-भाव से प्रेरित होकर ही तुम ऐसा करते हो।

कितने भयंकर और दुःसाध्य रोगों की तुम चिकित्सा करते हो ! तुम्हारी औषधि भी तो एक अचूक राम बाण ही है।

परन्तु इस रोगी की तरफ़ तुम्हारा ध्यान क्यों नहीं आता है महावैद्य ! इस की चिकित्सा के लिये किसी अनुकूल ऋतु की प्रतीक्षा कर रहे हो क्या ?

ट्रैमवे

चलते-चलते ट्रैम क्यों रुक गई है ? उसके भीतर की बत्तियाँ भी तो बुझ गई हैं !

ओह ! ट्रैम की चक्री बिजली के तार से अलग हो गई थी। बिजली का वेग बन्द हो जाने से ही ट्रैम की गति और प्रकाश दोनों का लोप हो गया था।

लो, चक्री लगाते ही ट्रैम फिर चलने लगी। बत्तियाँ भी फिर जल उठी हैं।

तो क्या बिजली उस तार में ही है, ट्रैम में नहीं ?
निःसंदेह। अधिक ठीक कहें तो उस से भी परे बिजली घर में। कभी-कभी तार भी बिजली से रहित होकर नगर भर को अंधकार मय बना देता है।

यह कैसा रहस्य है बिजली का ! उसी से तो ट्रैम चलती है और ट्रैम में प्रकाश भी होता है। परन्तु वह ट्रैम में होकर भी

ट्रैम की नहीं है । ट्रैम की चक्करी जब तक तार से टिकी रहे उस में गति और प्रकाश विद्यमान रहता है। ज्यों हीं वह अलग होती है ट्रैम में गति और प्रकाश दोनों का अभाव होजाता है।

\+ \+ \+

ऐसा ही रहस्य है इस बड़ी बिजली का, इस महा ज्योति का, इस शक्ति की वेगमय धारा का।

शरीर-ट्रैम की चक्करी जब तक उससे छूती रहती है उसमें गति और प्रकाश रहता है। वह सम्बन्ध-विच्छेद होते ही गति और प्रकाश लोप होकर यह ट्रैम अंधकारमय और गतिहीन हो जाती है।

इस जीवन-ट्रैम में उस दिव्य-विद्युत का वेग ही तो है। जब तक रहता है उसमें प्रकाश और गति विद्यमान रहते हैं। वह वेग रुकते ही शरीर-ट्रैम निर्जीव होकर बेकार हो जाती है।

शरीर-ट्रैम की वह चक्करी है मनुष्य का आत्मा जो प्रभु के संसर्ग से विचुम्बकित होकर सारे शरीर को तेजस्वी और गतिमय बना देता है।

तू भी बनायगा ओ मूर्ख ! अपने आत्मा को उस तेजपुञ्ज के निकट ले जाकर अपने जीवन को आलोकमय और गतिवान बनायेगा ?

निर्दोष-मुस्कान

निर्मल आकाश पर चन्द्रदेव को हंसते हुये देख कर पद्मा भी हँस रही है। दोनों की हँसी में कितना माधुर्य और कितनी शीतलता है !

अगणित तारे चन्द्रदेव पर हंस रहे हैं। संसार पद्मा पर हँसता है। परन्तु इन की हँसी कितनी संदिग्ध और अस्थिर है !

विमला और शान्ता पड़ोस की लड़कियों को काँच की नयी चूड़ियाँ पहने हुये देख कर पद्मा माँ से बोली—"मैं भी ऐसी चूड़ियाँ पहिनूँगी।" माँ हँस दी। उसकी हँसी विषाद युक्त थी।

पद्मा भी हँसी। परन्तु उसकी हँसी में बाल-सुलभ भोलेपन का समावेश था।

\+ \+ \+

पद्मा के छोटे भाई हरीश का विवाह-दिवस है। सब तरफ चहल-पहल मची है। घर और बाहिर की स्त्रियाँ नवीन सुन्दर वस्त्र धारण किये हँसी-विनोद में निमग्न हैं। पद्मा ने माँ से जाकर कहा—"माँ! वह मूंगिया रंग की रेशमी साढ़ी जो भैया लाये थे वह कहाँ है?" माँ ने नेत्र ऊपर उठाये और रूखी हँसी हँस कर कहा—"पद्मा तुम रंगदार रेशमी साढ़ी पहनोगी?"

पद्मा विकसित हो रही कली की तरह खिलखिला कर बोली—"वाह! क्यों न पहिनूँगी? अपने भैया का ब्याह है। मैं वही मूंगिया रंग की रेशमी साढ़ी पहन कर सखी-सहेलियों में बैठूंगी।" माँ का शंकित हृदय तेज़ हवा में हिलती हुई शाखा की तरह कम्पित हो उठा। उसकी कातर आँखों में दो बूंद जल छलक आया।

पद्मा विक्षुब्ध हृदय से बोली—"माँ तुम तो रोती हो। भैया के शुभ विवाह पर ऐसी अमंगल कामना मैं नहीं देख सकती। अच्छा तुम रहने दो, मैं इसी साढ़ी से जाती हूँ। कह दूँगी माँ ने न जाने चाबी कहाँ खो दी जिस से मेरे भैया की लाई हुई सुन्दर साढ़ी बक्स में ही पड़ी रह गई।

पद्मा हंसती हुई चली गई। माँ के रुके हुये आँसू गालों पर ढुलक आये। उन्हें आंचल से पोंछ कर वह भी बाहर निकल गई।

+ + +

नलिनी के विवाह पर पद्मा ने उल्लास-पूर्वक बाग़में से कुछ फूल चुने और नलिनी को गोद में लेकर उसके सिर के बालों में गूंथने लगी। पद्मा की सास राधा ने देखा तो किसी अनिष्ट की सम्भावना से विक्षुब्ध होकर चिल्ला उठी "अरी! यह क्या कर रही है ?"

पद्मा के ओठों पर मंद मुस्कान की रेखा दौड़ गई। बोली—"माँ! देखो तो मैंने नलिनी को कैसी सुन्दर दुलहन बना दिया है ?" राधा ने कड़क कर कहा—"अभागन! इस छोकरी के शिरोभूषण को भी बिगाड़ा चाहती है ?"

बारह बरस की अनजान पद्मा समझी कि उससे नलिनी के शिर का भूषण ठीक तरह से बालों में नहीं गुँथा है। वह नलिनी के बालों को खोलकर फिर से गूंथने लगी। राधा से न रहा गया, और नलिनी को उस की गोद में से छीन कर भीतर ले गई।

पद्मा अब भी हँस रही थी। उसने यही समझा कि वह विवाह के अनुसार सुन्दर केश सँवारना नहीं जानती। इस हँसी और इस समझ में सचमुच थी साक्षात् निर्दोषता और परले दरजे की सादगी!

समाज पद्मा पर हंसता है—क्योंकि वह बाल-विधवा है। परन्तु उसकी हंसी में कितनी ग्लानि, क्षोभ और ढिठाई विद्यमान है!

!!!

पल भर की तो बात ही है। मैं अभी उतारे लेता हूँ। बस हिलो नहीं।

हैं! क्या? फ़ोटो! मैं अपना फ़ोटो न लेने दूँगी। यह कहा और वह न जाने कहाँ अदृश्य हो गई।

मैं चुपचाप कैमरा हाथ में थामे हुये दूसरी तरफ़ चला गया।

कितनी ही बार मैंने प्रयत्न किया कि उसका एक फ़ोटो ले लूँ। परन्तु वह नहीं मानी। मैंने कई बार मिन्नत की, गिड़गड़ाया और एक बार तो रो भी दिया। फिर भी उसने यह कह कर टाल दिया कि उसका फ़ोटो मेरे यहाँ देख कर लोग क्या कहेंगे।

मैंने उत्तर में कहा भी कि यह ठीक है कि मेरे जेसे निर्धन के पास उसका फ़ोटो एक आश्चर्य की बात अवश्य होगी परन्तु मैं वह फ़ोटो किसी को देखने ही भला क्यों दूँगा? उसे विश्वास नहीं हुआ या फ़ोटो उतरवाने में ही वह बड़ा संकोच समझती थी। हर हाल उसने मुझे फ़ोटो नहीं उतारने दिया।

+ + +

अधखिले-फूल

वर्षा को आरंभ हुये एक सप्ताह से ऊपर हो चुका था। रोज़ आकाश काले बादलों से घिरा रहता। कभी बूँदा बाँदी होने लगती, कभी मूसलाधार बरसने लगता। मार्ग सब कीचड़ से लथ पथ हो रहे थे। मेरा भी घर से बाहिर जाना नहीं हो सका।

एक दिन प्रभात समय वर्षा को थमा देख कर मैं घूमने निकल पड़ा।

वह बाग में फूल चुन रही थी। सवेर बेले के हलके प्रकाश में उसका सौंदर्य्य और भी चमक उठा था। फ़ोटो लेने की मेरी धुन बराबर बनी थी और कैमरे को इसी से सदा अपने साथ रखता था।

मैंने देखा वह फूल चुनने में ऐसी मग्न थी कि मेरे बाग़ में पहुँचने का उसे बिल्कुल खटका नहीं हुआ।

उसकी सियाह अलकें दोनों कंधों पर बिखरी हुई थीं। मुख मंडल पर प्रभात के सूर्य की किरणें नृत्य कर रही थीं। भ्रमर उसके चारों तरफ़ मंडला रहे थे। और तितलियां बार बार सामने आकर नाचती थीं।

ऐसे सुअवसर से चूकना उचित न समझ मैंने अपना कैमरा निकाल लिया। उसने चौंक कर मेरी ओर देखा और एक हल्की सी मुस्कराहट छोड़ दी। मैंने बटन दबा दिया और पूर्व इसके कि वह मेरे तक पहुँचे कैमरा संभाल कर चलता हुआ।

मेरे हर्ष का उस दिन ठिकाना न था। कितने वर्षों के पीछे मेरी साध पूरी हुई थी।

\+ + +

मैं ने प्लेट को धोया और देखा चित्र बिल्कुल साफ़ था। वह प्लेट मैंने बड़ी संभाल कर रक्खी। मेरे जीवन का वह एक आवश्यक अंग हो गई। सोते-जागते, खाते-पीते मैं कभी उसे अपने से पृथक् न होने देता।

एक दिन वह मुझे फिर मिली और कहा मेरा फ़ोटो दे दो। मैंने कहा मैंने फ़ोटो तो बनाया ही नहीं, वह प्लेट धुल कर वैसे ही पड़ी है। वह बोली वह प्लेट ही न दे दो? मैंने उत्तर दिया, यह न होगा।

वह कई बार मुझ से रुष्ट हुई। मेरी मिन्नत की। एक बार रो भी दी। परन्तु मैंने वह प्लेट उसे नहीं दी। वह तो मेरे जीवन का अंग थीं। प्लेट देने की भूल कैसे कर सकता था भला?

एक दिन उसने कहा, मेरे लिये एक काम करोगे? मैंने कहा प्लेट देने के सिवा और सब कुछ करूंगा। वह बोली—"न मैं प्लेट नहीं मांगती।" मैंने कहा और सब कुछ करने को तय्यार हूं। वह मुस्कराई और बोली—"अच्छा प्रतिज्ञा करो उस प्लेट से चित्र न बनाओगे।"

\+ + +

बहुत दिन हो गये मुझे अब उसके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। मैंने प्लेट का चित्र न बनाया था। बना भी कैसे सकता था, बचन बद्ध था। बनाने की आवश्यकता भी न थी। उस प्लेट में अब भी उसके उसी स्वरूप को साक्षात् देख लेता था। प्लेट ही मेरे जीवन का एकमात्र सहारा थी।

एक दिन मैं उस प्लेट को ही देख रहा था कि एकाएक ज़बरदस्त आंधी आगयी। पवन के प्रबल झोंके से मेरी कोठड़ी का टिमटिमाता हुआ दीपक बुझ गया। प्रकाश के बिना वह प्लेट भी न देखी जा सकती थी। मुझे उसे किसी सुरक्षित स्थान पर रक्खने की चिन्ता हुई। परन्तु अंधकार में कुछ दिखाई न देता था। बहुतेरा टटोला फिर भी कोई स्थान प्लेट रखने योग्य नहीं मिला।

इसी बीच में किसी चीज़ की ठोकर लगी और प्लेट मेरे हाथों से गिर कर चूर चूर हो गयी। मैं थर थर कांपने लगा। एक ही तो प्लेट थी वह भी टूट गयी। चित्र भी न बनाया था। दूसरी प्लेट भी न थी। आह! यह सब क्या हुआ?

वह प्लेट मेरा दिल ही तो था जो काल के झोंके से मेरे जीवन-प्रदीप के बुझ जाने पर अंधकार में कांपते हुये मेरे ही हाथों से टूट कर टुकड़े-टुकड़े हो गया था।

—॥—

बुझा हुआ दीपक

यह एकाएक अंधकार कैसे हो गया ?
दीपक बुझ गया है क्या ?
अभी तो कितनी रात बाकी है। वह क्योंकर कटेगी !
यह सब लोग महफ़िल से क्यों उठने लगे हैं ?
तो क्या सब प्रकाश के ही साथी हैं ? अंधकार का कोई नहीं ?

\+ \+ \+

अंधकार में अकेले इस बुझे हुये दीपक को लेकर कब तक
फिरा करूँ ?
कहां, इस अंधकार में सभी तो गहरी निद्रा सो रहे हैं। मैं इस
दीपक को जलाने किसके पास जाऊँ ?

वह भव्य-भवनों में सोने वाले क्या अपने काफ़ूरी फ़ानूसों से मुझे
अपना यह क्षुद्र सरसों के तेल का दीपक जलाने देंगे ?

+ + +

दीपक क्यों बुझ गया ?
क्या तेल नहीं रहा ? अब कहाँ से लेने जाऊँ ? हाट तो सब बन्द
पड़े हैं, इस वक्त क्या मेरे लिये कोई उठेगा ?
कैसे लाऊँ ! पास तो फूटी कौड़ी भी नहीं। बिना पैसे तेल मुझ
भिखारिन को कौन देगा ?

+ + +

क्या बत्ती भी जल गई है !
तेल मिल जाने से तब क्या होगा ?
इस अंधकार में कैसे बनाई जायेगी बत्ती ?
रूई कहाँ ? मेरे पास फटी पुरानी गूदड़ी भी तो नहीं है। बिना
रूई बत्ती कैसे बनेगी ?

+ + +

यह क्या दीपक भी चूता रहा है !
तेल और बत्ती ही भला यहाँ क्या करेंगे ?
किस से जुड़ाऊँ ? मिट्टी के इस दिये को कौन जोड़ेगा ?
यह क्षुद्र मिट्टी का दीपक किसके सम्मुख लेकर जाऊँ ?

यह जुड़ कर भी क्या अब टिक सकेगा ?

\+ + +

फैंक दूँ ?

हाय, कैसे फेंकूँ ! भिखारिन को नया दीपक भी तो कौन देगा ?

यह लम्बी रात……उफ़ ! बिना दीपक अंधेरे में कैसे व्यतीत होगी ?

कितना भयानक अंधकार है ! अकेले बैठे जी क्यों घबरा रहा है ?

\+ + +

अब क्यों लाये हो इस तेल और बत्ती को ?

किसे जोड़ने आये हो अब ?

यह प्रकाश-पुञ्ज भी अब किसे जलायेगा ?

दीपक कब का फैंक दिया गया। हाँ, वह भिखारिन का स्नेह-विहीन और गुण-रहित जीवन-प्रदीप गिर कर चूर-चूर हो चुका है।

उसके छोटे-छोटे टुकड़े अब भी किसी के टूटे हुये अरमानों की याद दिला रहे हैं।

अकर्मण्यता

इस जीवन पर अकर्मण्यता का कैसा ज़ंगआलूदा ताला लग रहा है !

क्यों नहीं खोल देते दीनबन्धु ! मेरे इस जीवन पर लगे हुये ताले को अपने ज्ञान की कुंजी से क्यों नहीं खोल देते ?

वह नहीं तो अपने प्रबल दंड-प्रहार से ही इसे तोड़ डालो और जीवन के पट खोल कर मेरे देव ! जो कुछ थोड़ा बहुत इस में दीखे, सब के सम्मुख बखेर दो ।

खिलने दो विश्वमाली ! जीवन की इस बंद कली को खिल कर अपना सौरभ-सर्वस्व अब लुटाने ही दो, बस यही एक मात्र मेरी अभिलाषा है ।

मृत्यु-आलिंगन

किस उत्सुकता से आज के शुभ अवसर की प्रतीक्षा हो रही थी ! जीवन की इस सुहाग-रात पर ही तो सब आशायें बांध रक्खी थीं। इस निबिड़ अंधकार में तुम्हारा आलिंगन प्राप्त होने की बात का ध्यान करते हुये हृदय कई बार गुदगुदाने लगता था। यह कुछ-कुछ संकोच होना तो स्वाभाविक ही है।

\+ \+ \+

तुम्हारे आज के आलिंगन में सचमुच कितना माधुर्य है। ठीक भी तो है। वसंत की सुन्दर सुहावनी ऋतु की अवसान के साथ ही अब तो फूल और फल सभी झड़ने लगे हैं। तब तुम्हारे अकस्मात् मधुर-मिलन का परम-आनन्द वाञ्छनीय क्यों न हो ? आओ प्यारी ! कड़कड़ाते शीत के आगमन से पहले ही मैं तुम्हारे साथ एक दूसरे लोक को प्रस्थान कर जाऊँगा।

वहां बुढ़ापा और रोग नहीं सतायेंगे। मेरे और तुम्हारे सिवा कोई दूसरा नहीं होगा। उस अभय धाम में स्वतंत्र-व्यवहार और आनन्द-क्रीड़ा करते हुये हम एक नवीन संसार की खोज करेंगे। शैशव के सुप्रभात में यौवन-वसंत के प्रारंभ से बहुत पहले ही मेरी जीवन-संगिनी! हम दोनों उस नये संसार में फिर प्रवेश करेंगे। वही पहला सा स्वतंत्र उल्लसित और निर्दोष प्रेम-मय जीवन एक बार फिर हमारे आधीन होगा।

\+ + +

बच्चे को तो खिलौने से ममता हो ही जाती है। वह उस से खेलता है और दिल बहलाता है। खिलौना टूट जाने पर बच्चा रोने लगता है। वह जानता है उसे नवीन खिलौना अवश्य मिलेगा। तो भी पुराने खिलौने से उसे ममता है। टूटे हुये खिलौने को देख कर उसका दिल भी टूटने लगता है। बच्चा अपने टूटे हुये खिलौने को जोड़ने का अनेक बार यत्न करता है।

तुम कितनी महोपकारिणी हो, विशाल-हृदया हो, दीनों की सहायक और दुखियों की आश्रय हो, संतप्त हृदयों की शान्ति हो, और हो जीवन के अधूरे राग की एक नवीन सुरीले गीत में परिसमाप्ति करने वाली दिव्य-स्वर-लहरी!

\+ + +

परन्तु यह वसंत काल में ही और कभी कभी उस से भी

अधखिले-फूल

बहुत पहले तुम असंख्य विकसित और अर्ध विकसित पुष्पों को अनायास ही चयन क्यों करने लगती हो ?

तो क्या तुम वासनाओं की आँधी में कोमल कलिकाओं के पतित होने और आलस्य की तीव्र वर्षा में जीवन-पराग के झड़ जाने के भय से उन्हें अपने आँचल में सुरक्षित कर लेना चाहती हो ? या किसी सभा-समाज में सौंदर्य्य और सुगन्धि फैलाने के लिये उन्हें जीवन-वृक्ष की शाखा से किशोर अवस्था में ही पृथक कर डालती हो ?

\+ + +

तुम सचमुच कितनी उपकारिणी हो। कितनी पक्षपात रहित हो, कितनी निःस्वार्थ सेविका हो और हो सब रोगों की एक औषधि, सब उलझनों का एक हल और सब कठिनाइयों का एक उपाय और सब से बढ़कर मेरे जीवन की स्थाई साथिन और अविच्छिन्न प्रेमिका।

आओ, जीवन-सहचरि ! एक बार अपने प्रेम-आलिंगन से मेरे समस्त दुःख-दारिद्रय और संताप को हर कर आनंद परमानंद और ब्रह्मानंद में लीन कर दो।
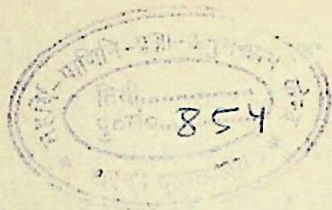
अमूल्य रत्न

इस अमूल्य रत्न पर कितनी धूल पड़ी हुई है! वर्षों के आलस्य ने इसकी सारी आभा को विलुप्त कर रक्खा है। अपने पराये सब पैरों तले रौंद कर चले जाते हैं। किसे मालूम इस धूलि के नीचे कोई दिव्य वस्तु छिपी है।

इस धूलि धूसरित रत्न को अपनी ज्ञान-वर्षा से क्यों नहीं धो डालते करुणा-सागर?

ओह! तुम्हारी भक्ति की प्रज्ज्वलित जोत के सम्मुख यह रत्न कितना चमक उठेगा! संसार एक बार फिर देख कर आश्चर्य चकित होगा।

इस जीवन-रत्न—भारतीय संस्कृति रूपी रत्न—को धूलि से उठा कर उज्ज्वल रूप न दोगे इष्ट देव!
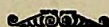
सरिता-संदेश

हज़ारों और लाखों वर्ष हुये वह छोटे से झरने से निकली थी। उस समय उसका अस्तित्व ही क्या था। एक नन्हा सा बालक भी उसे छलांग लगा पार कर सकता था। परन्तु वह भावी को दोष दे कर ही नहीं बैठ रही। हिम्मत की और आगे बह निकली। सखी सहेलियों ने देखा तो आप ही आस-पास से आ-आ कर उसके साथ हो लीं। पानी की लकार छोटी सी नदी बन गयी।

वह और आगे बढ़ी। अब पत्थर और कंकर उसके सामने न ठहर सके। मज़बूत चट्टानों को वह चीर कर निकल गई। बड़े-बड़े नाले उसकी हिम्मत और साहस से प्रभावित हुये। उसमें सम्मिलित होना उन्हें गौरव दीखने लगा। सरिता का पाट बहुत बढ़ गया। उसकी शक्ति में भी वृद्धि हुई। अब कौन है जो पहिले की तरह उसे छलांगने की ढिठाई कर सके ?

मैंने विचारा जड़ नदी का यह परिश्रम और उद्योग क्या सचमुच ही प्रशंसनीय और अनुकरणीय नहीं है ?

\+ + +

सरिता की अविरल धारा को प्रवाहित देख मेरे हृदय में भी विचार-सलिला बह निकली। सचमुच नदी का जल कब से इसी तरह निरन्तर बहता चला जाता है। दिन हो या रात, प्रभात हो या सायंकाल, नदी का पानी बह रहा है। भीषण से भीषण आँधी आती है और बड़े बड़े वृक्षों को जड़ से उखाड़ निर्दयता पूर्वक नदी में फेंक देती है, परन्तु वह खड़ी नहीं होती। घने जंगलों में से जहाँ मनुष्य का चिह्न भी नहीं मिलता अकेला उसे गुज़रना पड़ता है, परन्तु वह निर्भयता से वहाँ भी बह निकलती है। आबादी के पास उसे रोकने के लिये बड़े बड़े बन्द बांधे जाते हैं वह अवसर पाकर वहाँ से भी भाग खड़ी होती है। उसे उद्देश्य प्राप्ति की कितनी उत्सुकता है ! किस लगन से चली ही जाती है !

परन्तु मनुष्य कितना निर्बल है ! तनिक सी आपत्ति और विपत्ति से घबरा कर साहस-हीन हो जाता है। थोड़ी सी सख़्ती और अत्याचार को भी सहन न कर उद्देश्य से विमुख होने लगता है। और एक बार की असफलता से ही भावी को दोष देकर कायरों की तरह बैठ रहता है।

मैंने और ध्यान से देखा कि जैसे जैसे नदी की शक्ति और बल बढ़ता गया उसका हृदय भी अधिक विशाल होता गया। पशु पक्षी और मनुष्य सब उस से लाभ उठाते हैं साथ ही उसकी पवित्र जलराशि को गंदा भी करते हैं परन्तु वह फिर भी एक रस प्रवाहित है। निरन्तर बहना ही एक मात्र उस का प्रयोजन है। हज़ारों और लाखों वर्षों से वह इसी तरह बराबर बह रही है और अपनी लहरों के कलकल-नाद से मनुष्य के लिये कर्मशील-जीवन का अमूल्य-संदेश छोड़ जाती है।
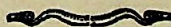
विस्मृत-जीवन

कीर्त्ति-गगन पर कितने जीवन अगणित तारों के रूप में जगमगा रहे हैं। उनकी रश्मियें परिमित होकर भी रात्रि के गहरे अंधकार में मंजुल-प्रकाश दे रही हैं।

इस प्रकाश का मूल्य वह नाविक ही जानता है जिसका जीवन-जलयान अकर्मण्यता के समुद्र पर अज्ञान-तमाच्छन्न में मार्ग खो बैठता है। निराश मल्लाह की दृष्टि आकाश की ओर उठती है और वह किसी दिव्य ज्योति को लक्ष्य में रख कर अपना जीवन-जलयान एक निश्चित तरफ़ को छोड़ देता है।

+ + +

परन्तु क्या इस व्याम-मंडल में इन यशस्वी तारों के अतिरिक्त कुछ नहीं।

वह असंख्य जीवन जो कर्त्तव्य की पूर्त्ति में मृत्यु के विष भरे कटोरे को चुपचाप पी गये, वह जिन्होंने दूसरों की प्राण-रक्षा के लिये अपने शरीर का रुधिर स्वयं अर्पण किया, जिन्होंने

औरों के सुख-स्वतंत्रता की खातिर अपने सुख-स्वतंत्रता की सहर्ष बलि दे दी, वह सब क्या हुये ?

+ + +

वह भी हैं। इन तारों से बहुत परे, बहुत ऊपर और बहुत सूक्ष्म विस्मृति-लोक में अदृश्य रूप से विद्यमान हैं। हां, वह सुन्दर नील-आकाश-आवरण से भी बहुत परे हैं।

कभी कभी उनमें से एक आध यश की लालसा के वशीभूत निकटवर्त्ती स्मृति-गगन पर उतर आता है। तब वह कितना प्रदीप्त होता है ! संसार की आँखें उसके तेज प्रकाश से चुंधिया जाती हैं। वसुधा उस प्रकाश-पुञ्ज को पकड़ कर अपनी ओर खींचती है।

+ + +

विस्मृति-लोक का यह तारा देखते देखते फिर अदृश्य हो जाता है। इस यश के भूखे और नाम के प्यासे संसार में उस दिव्य-ज्योति का टिकना क्यों कर हो सकता है भला !

वह संसार को किसी आने वाले अनिष्ट की, उस अनिष्ट की जिसको उसकी दूरदर्शी आँखें दूर से देख लेती हैं सूचना देने आता है। वह कौन है यह जानने से पूर्व ही वह फिर अदृश्य हो जाता है।

निःस्वार्थ उपकार की सचमुच यह पराकाष्ठा नहीं है क्या ?

झूला

पिछले सावन की घटना मुझे अभी तक भली भाँति स्मरण है। यही दिन थे। यमुना तट पर सायंकाल को घूमते समय मेरे कानों में एकाएक यह शब्द पड़े।

"एक झूला डाला मैंने अम्बवा की डाल में,
सखी सहेलियों संग सावन का मोरा झूलना।"

मैंने चौंककर देखा विमला और शान्ता सचमुच अपनी सखी सहेलियों के साथ एक वृक्ष की डाली में झूला डाले झूलने को तय्यार खड़ी थीं।

मुझे देखकर विमला बोल उठी—भैया! देखो तो हमने कैसा अच्छा झूला डाला है।"

मैंने कहा—"बहुत अच्छा है, परन्तु तुमसे अच्छा नहीं।"

इतने में शान्ता कहने लगी—"भैया! यह डाल हम दो के झूलने से टूट तो न जायेगी?"

मैंने उत्तर में कहा—"चढ़ो तो बताऊँ टूटेगी वा नहीं"

सरल-हृदया बालकायें झूले के निकट आ जुटीं। पहले शान्ता और एक दूसरी बालिका शोभा को झूले पर बिठाया गया। विमला और अन्य सब उसे झुलाने लगीं।

मैंने देखा जब जब झूले की चाल धीमी पड़ जाती सब बालिकायें मिलकर झुला देतीं और झूला फिर थोड़ी देर के लिये झूलता रहता।

\+ + +

मेरा ध्यान बालिकाओं के खेल से हट कर एक दूसरी ओर जा पड़ा। मैं ने सोचा यह बार-बार झूले को झुलाती क्यों है? मुझसे न रहा गया और उन बालिकाओं से कह उठा—"यह तुम बार-बार झूले को झुलाती क्यों हो?"

वह सब हँस पड़ीं और बोलीं—"वाह भैया! तुम यह भी नहीं जानते? झूले को झुलायें नहीं तो वह धीरे धीरे खड़ा न हो जाये।

मैंने कहा—"कई व्यक्ति झूला झूलते हुए किसी की सहायता नहीं लेते और झूला झूलता रहता है।

यह सुन विमला एक बड़ी बालिका के संग झूले पर जा चढ़ी और दोनों मिल कर स्वयं ही झूला झुलाने लगीं।

तब शान्ता बोली—"देखो भैया! यह तो आप ही झूला

झूल रहीं हैं। यह बड़ी हैं, इनमें शक्ति है, हम स्वयं झूल सकें इतनी शक्ति अभी हम में नहीं आई।

\+ + +

विमला इतने में झूले से उतर आई और आते ही कहा—"लो हमने भी तो किसी की सहायता नहीं ली। परन्तु भैया! झूला झूलने के लिये शक्ति की आवश्यकता तो पड़ती ही है। वह शक्ति छोटी अवस्था में चाहे दूसरों की हो और बड़ी होने पर चाहे अपने भीतर की।

मैंने पूछा—"विमला! क्या तुम्हारे झूलने के आनन्द का रहस्य शक्ति में ही है? परन्तु इस रहस्य को कितने व्यक्ति जानते हैं? जीवन का आनन्दमय झूला झूलते हुए कितने मनुष्य हैं जिन्हें तुम्हारे जैसी स्नेहमयी सखी-सहेलियों की सहायता मिलती है? और कितने हैं जो अपने भीतर की शक्ति का उपयोग कर अपना झूलना जारी रखते हैं?

इस पर भी सब यही कहते है जीवन का आनन्द नहीं आता। निष्क्रिय आलसी जीवन में आनन्द मिल सकता है यह समझना भी क्या विमला! वैसी ही मूर्खता नहीं है जैसा यह सोचना कि बिना शक्ति तुम झूले का आनन्द लूट सकती हो?

समुद्र

कितना भाग्यशाली है समुद्र ? छोटी बड़ी नदियाँ अपनी असीम सम्पत्ति सहित उसमें लीन होना परम गौरव समझती हैं। कितनी दूर दूर से जान-जोखम के साथ अपनी सारी जल-निधि लाकर उसके अर्पण कर देती हैं !

क्यों ?

इसलिये कि समुद्र महान् है।

\+ \+ \+

कितना निःस्वार्थ त्याग है उसका ! कारूँ का खज़ाना पाकर

भी हाथोंहाथ सब लुटा देता है। दिन रात के परिश्रम द्वारा प्राप्त जल-निधि को जलद-दल में परिवर्तित करता है। कैसा तपस्वी जीवन है !

अपने चरणों में अर्पित भक्तों की भेंट को ऊपर उठा आकाश-चुम्बी पर्वतों के सुन्दर श्वेत-शिखरों पर आच्छादित कर कितना आदर देता है ! दूसरे की अमानत दूसरे को लौटा कर उसका चित्त भी शीतल हो उठता है।

+ + +

कितना महान है समुद्र !

कितना विशाल, जिसकी कोई सीमा नहीं और कितना गहरा, जिसकी थाह पाना कठिन है !

फिर भी कैसा गम्भीर है ! गर्व रहित होकर अपने जल-तल को समतल कर रक्खा है। किसी के कुछ डाल देने और किसी के कुछ निकाल लेने से उसकी जल-राशि में कोई अन्तर नहीं आता। कितना संयम है समुद्र में !

+ + +

उसकी सहिष्णुता का क्या पूछते हो ! हिंसक जल-जन्तुओं और जड़ वस्तुओं को अपने उदर में सुरक्षित रख पाल पोस रहा है।

और कितना विशाल हृदय है ! जिस ने भी पास पहुँच कर याचना की उसे कुछ न कुछ दे ही दिया । मोती—बढ़िया नहीं तो

घटिया—मूंगे, सीप, शंख कोई न कोई वस्तु डुबकी लगाने वाले की झोली में अवश्य डाल देता है।

फिर संसार को कैसा एक सूत्र में बांध रक्खा है! धरती के टुकड़ों को बिछड़े भाइयों की तरह परस्पर मिलाकर उनके व्यापार और ऐश्वर्य की कितनी वृद्धि करता है! कितना महोपकारी है समुद्र!!

\+ \+ \+

और स्वयं उसे क्या मिलता है?

अपने वक्षःस्थल पर असंख्य जल-यानों का पाद-प्रहार, कोयले के धुएँ की कालिख, मिट्टी के तेल की दुर्गन्धि और कभी कभी स्वार्थ-मद में मतवाले मनुष्यों का रक्त पात!

वह सब भी वह कितने धैर्य से सह लेता है! मन पर मैल नहीं जमने देता, झाग के रूप में सब बाहर फैंक देता है। सच-मुच कैसा संतोषमय जीवन है! सचमुच कितना महान है समुद्र!!

लंगर

जलयान महासागर में मज़े से जा रहा है। एकाएक ज़ोर की आँधी ने घेर लिया। समुद्र का जल उद्वेलित हो उठा। चारों तरफ़ भयानक लहरें पैदा होने लगी हैं।

चंचल लहरों पर हचकोले खाते हुये जहाज़ का आगे चलना अब कठिन होगया। कप्तान ने कहा 'लंगर डाल दो।'

लंगर डाल दिया गया। जहाज़ उद्वेलित महासागर में भी बहुत कुछ शान्त है। वह पानी के थपेड़ों से थोड़ा कम्पायमान

अवश्य होता है परन्तु पहले की तरह डगमगाता नहीं। वह अब डूबने के ख़तरे से बाहर है।

\+ + +

तूफ़ान थम गया। जहाज़ का लंगर फिर उठा दिया गया। जहाज़ अपने निश्चित बन्दर की ओर पहिली सी शान्ति के साथ वेग पूर्वक चलने लगा है।

अकेले तूफ़ान में ही क्यों ? कोई भी आपद आये, शत्रु घेर ले, मार्ग भूल जाये, आग लग गई हो, जहाज़ का लंगर तुरन्त डाल दिया जाता है।

लंगर डालना जहाज़रानी का एक आवश्यक और उत्तर-दायित्व का काम है। जहाज़ के कप्तान को लंगर डालने के अवसर और ढंग का परिज्ञान होना नितान्त आवश्यक है।

\+ + +

मनुष्य-शरीर भी तो एक जहाज़ ही है जो अथाह भव-सागर में अनेक छोटी बड़ी उद्देश्य-रूपी बन्दरगाहों की यात्रा करता रहता है।

परन्तु वह सदा अपनी यात्रा को निर्विघ्न ही समाप्त कर लेता हो सो बात नहीं। कभी कभी ऐसे अवसर भी आ जाते हैं जब परिस्थिति प्रतिकूल होने से चारों तरफ़ का संसार-सागर उद्वेलित हो उठता है। रुकावटों की लहरें आ-आ कर जहाज़ को

कम्पायमान कर देती हैं। शत्रु निकट में ताक लगा कर बैठ जाते हैं। कभी-कभी मार्ग तक भूल जाता है।

ऐसे अवसर पर इस मानव-जलयान का लंगर गिरा देना भी आवश्यक होता है।

वह लंगर है मन!

\+ \+ \+

भव-सागर में ज़ीवन-यात्रा को निर्विघ्न समाप्त करने के लिये मन-रूपी लंगर निःसंदेह एक उपयोगी वस्तु है।

मनुष्य को छोटे मोटे कामों में अनेक कठिनाईयों और विपदाओं का सामना करना पड़ता है। प्रतिकूल पारिस्थिति की तरंग-मालाओं पर यह जहाज़ डगमगाने लगता है। उस समय तुरन्त मन-रूपी लंगर डाल देना चाहिये।

तूफ़ान गुज़र जाय लंगर को उठाकर फिर जहाज़ को पूरी चाल से छोड़ दो। जिस कार्य को हाथ में लिया था उसमें एक बार फिर तन्मय हो जाओ।

\+ \+ \+

मन-रूपी लंगर भी मानव-शरीर के जहाज़ के भीतर ही एक स्थान पर पड़ा रहता है। उसे इतना भारी मत बनाओ कि जहाज़ के चलने में बाधक सिद्ध होने लगे। बहुत छोटा और हलका भी उचित नहीं कि जहाज़ को स्थिर रखने में ही असमर्थ हो।

हाँ, लंगर को काम में लाने के लिये बहुत से व्यक्तियों के बल की आवश्यकता होती है। मन से भी इच्छानुकूल लाभ उठाना चाहते हो, उसके सहारे जीवन के जहाज़ को कठिनाइयों के समुद्र में स्थिर रखने के अभिलाषी हो तो सब इन्द्रियों की सामूहक शक्ति को उसे वश में लाने के लिये व्यय कर दो।

जब भव-सागर की यात्रा कर रहे हो तो अपने मन-रूपी लंगर को ऊपर ठीक स्थान पर अटका कर साथ साथ चलने दो और जब लोभ मोह और भय के भयानक तूफ़ान में घिर जाओ तो अपनी पूरी शक्ति से इसे नीचे डाल दो और जीवन को इसके सहारे स्थिर रहने दो।

परन्तु स्मरण रहे यह लंगर विश्वास की मज़बूत संकल से अवश्य बंधा रहना चाहिये।

सफलता का रहस्य

वसन्त ऋतु थी। पिछले पहर कोयल की मधुर कूक ने मेरे सुख-स्वप्न को भंग कर दिया। पौ फटने के साथ ही पूर्व-दिशा में प्रकाश की वर्षा होने लगी। खिड़की में से ठंडी सुरभित वायु का झोंका आया; हृदय पुलकित हो उठा। आखिर आलस्य छोड़ा और बाहर सैर को चल दिया।

ठीक खेतों के बीच में पहुँच कर चारों तरफ़ के सुन्दर दृश्य को देखते ही हृदय की कली खिल उठी। गेहूँ का हरा-भरा

खेत लहलहा रहा था। उसका प्यारा रंग, उसकी कोमलता और उसका पवन के हलके स्पर्श से झूमना सब चित्त को लुभाये लेता था।

मेरे मन में एक विचार-तरंग उठी और मैं किसी वस्तु की खोज में भूमि की तह में उतर गया। मैंने निश्चय कर लिया था कि उस अलौकिक सुन्दरता का रहस्य जान कर ही विश्राम लूँगा। मैंने पाया और आशा से कहीं अधिक पाया।

+ + +

भूमि के नीचे कोई एक दो इंच की दूरी पर गेहूँ के नन्हें दाने विद्यमान थे। आह! उनकी करुणाजनक अवस्था देख कर आँखों में आँसू उमड़ आते थे। वही दाने जो अपने शरबती रंग की सुन्दरता में सुनहरी मोतियों को भी मात करते थे अब अत्यन्त शोचनीय अवस्था में पड़े हुये हृदय को विदीर्ण कर रहे थे।

मेरा ध्यान फिरा और छोटे-छोटे पौदों को नई दृष्टि से देखने लगा। उनके सौंदर्य्य का रहस्य मेरी समझ में आगया।

तनिक देखो! नन्हीं सी जानें और यह साहस, यह परि-श्रम और यह त्याग! अपने आपको मिट्टी जैसी तुच्छ वस्तु में गिराया। सेरों का बोझ सहन किया। सरदी-गरमी, धूप और वर्षा सब ऋतुओं के कष्ट झेले। इस पर भी जब उद्देश्य की

प्राप्ति न हुई तो अपने आप को उसी चिन्ता में गला दिया। मिट्टी में गिरे थे, अपने अस्तित्व को भी मिट्टी में मिला दिया। शरीर का मांस सब भूमि ने नोच खाया। गेहूँ के दाने हड्डियों का पिंजर मात्र रह गये।

\+ \+ \+

यह सब होकर भी उनके हृदय में जीवन-शक्ति बराबर विद्यमान रही। अपने रक्त की अन्तिम बूँदें भी उन्होंने प्रदान कर दीं। और सर्वस्व स्वाहा करते हुये अपना निशान तक मिटा दिया। समय पाकर अनेक नन्हें-नन्हें अंकुर फूट पड़े। उनकी नींव तप और त्याग पर रक्खी गई थी, इस लिये शीघ्रता से बढ़ने लगे और कुछ ही दिनों में लहलहाते पौदे बन गये।

वैशाख में एक दिन मेरा फिर उन्हीं खेतों से गुज़रना हुआ। छोटे-छोटे पौदे अब बहुत बढ़ चुके थे। एक-एक पौदे की प्रत्येक डाली में अनेकों बाल और हर एक बाल में सैकड़ों दाने लगे हुये थे। वह गेहूँ के नन्हें दानों के तप और त्याग का शुभ परिणाम था।

परन्तु इतने पर भी उन्हें अभिमान और अहंकार नहीं हुआ। नम्रता-पूर्वक सब टहनियों को झुका कर अपने परिश्रम के मधुर-फल को अन्नपूर्णा वसुंधरा के अर्पण कर दिया।

\+ \+ \+

मेरे मन में एक प्रश्न उठा, मनुष्य भी क्या गेहूँ के दाने नहीं हैं ? परन्तु उनमें गेहूँ के दानों का सा तप, त्याग और साहस कहाँ ? वह तो अपने संकल्प-वृत्त पर बिना कर्म और उद्योग के ही मधुर-फल की प्राप्ती चाहता है। वह गुलाब का अभिलाषी है परन्तु उसमें कंटक देखते ही हाथ खींच लेता है।

वह नहीं देखता, गेहूँ के दानों को सच्ची लगन थी, हार्दिक प्रेम था और प्रबल उत्सुक्ता थी। अपने उद्देश्य की प्राप्ती के लिये उन्होंने क्या क्या परिश्रम नहीं किया और कौनसा कष्ट नहीं उठाया ? परन्तु साहस नहीं छोड़ा और अन्त में सफलता देवी ने उत्तम फलों से उन्हें सम्पन्न कर दिया।

सफलता का यही रहस्य है कि गेहूँ के दाने की तरह मनुष्य अपने आप को धूलि-धूसरित कर दे, अपने आप को गला दे और मिटा दे। सिद्धि की कोंपलें आप ही फूट निकलेंगी और एक दिन आयेगा उसके जीवन का लहलहाता पौदा फल-वर्धित संकल्प-वृत्त में परिणित होगा।

अभिलाषा

प्रेम के महासागर! यह जल-विहीन मीना माया के इस मजबूत जाल में कब तक तड़पती रहे?

जीवन एकबारगी शुष्क हुआ जा रहा है। कितनी व्याकुलता हो रही है इस समय! कहाँ, कुछ क्षण भी तो व्यतीत होने अब कठिन हैं।

+ + +

कब से यह पतंगा दीपक के चारों तरफ़ चुपचाप छटपटा रहा है!

ओ महा-प्रदीप! तुम्हारे विश्व-व्याप्त प्रेम की ज्वाला को एक बार स्पर्श कर भस्मीभूत हो जाये यही बस इसकी एक मात्र अभिलाषा है।
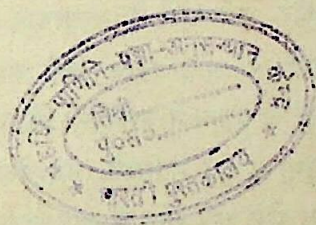
रक्षा-बन्धन

स्नेहागार भगिनी !

एक बार मैं ने रक्षा बन्धन की याचना की थी । उस समय का अपना उत्तर आपको स्मरण ही होगा । अवश्य ही "हमें सांसारिक आडम्बरों से ऊपर उठना चाहिये।" आप आश्चर्य में न पड़ें आपकी उस परिभाषा के अनुसार ही आज फिर मैं याचक के रूप में उपस्थित हो रहा हूँ। निःसंदेह हमें सांसारिक आडम्बरों की क्या आवश्कता है ? पर उस आदर्श की स्थापना किये बिना कार्य कैसे चल सकता है ? वह तो करना ही होगा । भगिनी ! द्वार पर एक याचक खड़ा है अपने हृदय को विशाल बनाओ, अपनी कृपा

का हाथ कुछ और आगे बढ़ाओ और आदर्श प्रेम के विस्तृत साम्राज्य में भूले-भटके एक पथिक को सुरक्षित कर लो। न करोगी भगिनी! स्वार्थ के वार से, पाप के प्रहार से, संकीर्णता के संहार से और कुविचारों के बलात्कार से अपने एक भाई की रक्षा न करोगी? आडम्बर न सही आडम्बर रहित हो कर ही उसके बंधनों को इतना न कस दोगी कि वह स्वच्छन्द और स्वतन्त्र रह कर बुराइयों के गढ़े में गिरने, अश्लीलता की अंधकारमयी कंदरा में पतित होने और मोह के माया-जाल में फंसने से बचा रहे?

हाँ, मैं स्वयं आप याचना करता हूँ, अपने जीवन को आगे किये बढ़ रहा हूँ, श्रद्धा-सहित एक स्नेह-सहोदरा के पास आ रहा हूँ। तब क्या निराश लौटा दोगी, अपने पावन हृदय से एक-बारगी ठुकरा दोगी और अपनी आदर्श पवित्रता की छत्र-छाया से सदा के लिये वंचित कर दोगी? पर इसका परिणाम जानती हो बहन! क्या होगा—सर्वनाश! एक मानव-हृदय का घोर ध्वंस, एक मानव-आत्मा का भीषण पतन और एक मनुष्य-जीवन की भयानक मृत्यु। भगिनी! यह सब सह सकोगी? इस भीषण दृश्य को देख सकोगी? अपने प्रिय भाई का पिशाच स्वरूप में ताण्डव नृत्य सहार लोगी? उफ़! उसके ध्यान मात्र से ही शरीर जलने लगता है। पर यह सब न होगा, कदापि न होगा, कोई कहता है ऐसा न होगा, मेरा हृदय साक्षी देता है नहीं होगा, मेरी

आत्मा अनुभव करती है नहीं होगा, सारा विहंग-समूह अलाप रहा है नहीं होगा, और चारों दिशाओं से प्रति-ध्वनि हो रही है ऐसा नहीं होगा। तब क्या बहन! आपकी हृदय-तन्त्री से भी यह सरस तान न निकलेगी कि ऐसा नहीं होने दूँगी?

तब आऊँ भगिनी—हाँ मैं आता हूँ, खाली हाथ सही पर हृदय तो शून्य नहीं है। नंगे पैर और नंगे सिर हूँ परन्तु सौहार्द-मन्दिर में इन बाह्य-आडम्बरों की आवश्यकता ही क्या है? हाँ! नग्न-आत्मा नहीं हूँ। तब सहोदरे! उस आत्म-भुजा को ही एक न टूटने वाले बंधन में बाँध दो, कर्तव्य के पुण्य पुनीत सूत्र में जकड़ दो और प्रेम की पावन राखी से भली भाँति कस दो। हाँ आदर्श-मय भगिनी! आदर्श की सुन्दर कुसुम-माला से उसे विभूषित कर दो। इस महोपकार के फल-स्वरूप में क्या भट करूँ? कृतज्ञता से छलकते हुये दो जल-बिन्दु—क्या भगिनी! इस सरस भेंट को स्वीकार करोगी?

संसार स्वतन्त्रता चाहता है पर मैं हूँ रक्षा-बन्धनाभिलाषी

आपका भाई

—केदार